ओ३म्

मेरे तो गिरिधर गोपाल

(आराध्य श्रीकृष्ण-चरित के कुछ अछूते प्रेरक जीवन-प्रसंग)

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।
(जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं, जहाँ कृष्ण हैं वहाँ जय है)
—महा० उद्योग० ६८।६

लेखक
डॉ० ओम्प्रकाश वेदालंकार

प्रकाशक
भगवती प्रकाशन
एच १/२, माडल टाउन, दिल्ली-६

प्रकाशक :

भगवती प्रकाशन

एच १/२, माडल टाउन, दिल्ली-९

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

विक्रमी संवत् २०४६

दयानन्दाब्द १६५

प्रचार-मूल्य : ३.००

मुद्रक :

दुर्गा मुद्रणालय

सुभाष पार्क एक्सटेंशन, नवीन शाहदरा

दिल्ली-११००३२

गुणों के धनी—श्रीकृष्ण

दुर्योधन—**स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुलोचनः।**
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा॥

—महाभारत उद्योगपर्व ८९।५

यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तीनों लोकों में इस समय यदि कोई सर्वाधिक पूज्य व्यक्ति है तो वह विशाल-लोचन श्रीकृष्ण हैं।

धृतराष्ट्र—**सर्वेष्वपि च लोकेषु बीभत्सुरपराजितः।**
प्राधान्येनैव भूयिष्ठममेयाः केशवे गुणाः॥

—महा० द्रोणपर्व १८

श्रीकृष्ण अपने जीवन में कभी पराजित नहीं हुए। उनमें इतने विशिष्ट गुण हैं कि उनकी परिगणना करना सम्भव नहीं है।

भीष्म— **ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः।**
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ॥
वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥

—महा० सभा० ३८।१८-२०

श्रीकृष्ण द्विजातियों में ज्ञानवृद्ध तथा क्षत्रियों में सर्वाधिक बलशाली हैं। पूजा के ये दो ही मुख्य कारण होते हैं जो दोनों श्रीकृष्ण में विद्यमान हैं। वे वेद-वेदांग के अद्वितीय पण्डित तथा बल में सबसे अधिक हैं। दान, दया, बुद्धि, शूरता, शालीनता, चतुराई, नम्रता, तेजस्विता, धैर्य, सन्तोष इन गुणों में केशव से अधिक और कौन है?

वेदव्यास— **धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः।**

—महा० उद्योग० ८३ अध्याय

श्रीकृष्ण इस समय मनुष्यों में सबसे बड़े धर्मात्मा, धैर्यवान् तथा विद्वान् हैं।

अर्जुन— **न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन।**
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु॥

—महा० वनपर्व १२।३६

हे मधुसूदन! आप गुणों के कारण 'दाशार्ह' हैं। आपके स्वभाव में क्रोध, मात्सर्य, झूठ, निर्दयता एवं कठोरतादि दोषों का अभाव है।

युधिष्ठिर—**तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च।**
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमेण च॥
पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिन्दम॥

—महा० शान्तिपर्व ४३

हे यदुवंशियों में सिंहतुल्य पराक्रमी श्रीकृष्ण! हमें जो यह पैतृक राज्य फिर प्राप्त हो गया है यह सब आपकी कृपा, अद्भुत राजनीति, अतुलनीय बल, लोकोत्तर बुद्धि-कौशल तथा पराक्रम का फल है। इसलिए हे शत्रुओं का दमन करनेवाले कमलनेत्र श्रीकृष्ण! आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं।

बंकिमचन्द्र—उनके (श्रीकृष्ण) जैसा सर्वगुणान्वित और सर्व-पापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है, न किसी देश के इतिहास में और न किसी काल में। —कृष्णचरित्र

दयानन्द—देखो! श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरण-पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा।

चमूपति—हमारा अर्घ्य उस श्रीकृष्ण को है जिसने युधिष्ठिर के अश्वमेध में अर्घ्य स्वीकार नहीं किया। साम्राज्य की स्थापना फिर से कर दी है परन्तु स्वयं उससे निर्लेप, निस्संग रहा है। यही वस्तुतः योगेश्वर श्रीकृष्ण का योग है। —योगेश्वरकृष्ण, पृष्ठ ३५२

दो शब्द

'श्रीकृष्ण जन्माष्टमी' योगिराज श्रीकृष्ण का पावन जन्मदिवस है। सम्पूर्ण भारत ही नहीं विश्व के अन्यान्य देशों में भी इस दिन को विशेष उत्साह से उत्सव के रूप में मनाया जाता है। श्रीकृष्ण का पावन चरित ही 'श्रीकृष्ण जन्माष्टमी' का मुख्य सन्देश है।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या धारणाएँ आजतक अशिक्षित ही नहीं शिक्षित समाज में भी प्रचलित हैं। प्राय: यह धारणा बन गई है या जान-बूझकर मिथ्या प्रचार के लिए बना ली गई है कि आर्यसमाज श्रीकृष्ण और गीता को नहीं मानता। पर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में वास्तविक दृष्टि आधुनिक युग में यदि सर्वप्रथम किसी ने प्रदान की है तो वे आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ही हैं जिन्होंने सत्यार्थप्रकाश में श्रीकृष्ण-चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए यह स्पष्ट प्रतिपादन किया कि "श्रीकृष्ण ने जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो महाभारत में ऐसा नहीं लिखा।" अत: आर्यसमाज ऐसे ही आदर्श श्रीकृष्ण का आदर करता है और उन्हें ही अनुकरणीय मानता है—पुराण-वर्णित चरित्र-दोषी श्रीकृष्ण का नहीं।

श्रीकृष्ण जनसमाज में कितने लोकप्रिय हैं इसकी एक झाँकी श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'कृष्णचरित' नामक ग्रन्थ में देते हुए लिखा है—"भारत में गाँव-गाँव में कृष्ण के मन्दिर हैं। घर-घर में कृष्ण की पूजा होती है। प्रतिमास कृष्ण-उत्सव होता है। प्रति उत्सव में कृष्ण-लीला होती है। सबके मुँह पर कृष्ण का नाम है तथा उसके गीत सुनाई देते हैं। किसी के वस्त्र पर कृष्ण-नामावली होती है तो किसी के शरीर पर कृष्ण नामों की छाप। कोई कृष्ण का नाम लिये बगैर पैर बाहर नहीं रखता, कोई कृष्ण का नाम लिये बिना कुछ नहीं

लिखता। भिखारी 'राधाकृष्ण' का नाम लेकर भीख माँगता है तो जुआरी कृष्ण का नाम लेकर दाँव लगाता है। अभिवादन करते हैं तो भी कृष्ण का नाम लेकर यथा 'जय श्रीकृष्ण', 'जय गोपाल', 'जय राधेकृष्ण' और घृणा प्रदर्शित करते हैं तब भी कृष्ण का नाम लेकर 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' आदि।''

जनसमाज में व्याप्त ये कृष्ण वास्तव में क्या थे, इसका ज्ञान सामान्यजनों को बहुत कम है। जो कुछ भी है, सुनी-सुनाई काल्पनिक मिथ्या लोकधारणाओं के आधार पर ही, जिसमें अतिशयोक्ति, अन्ध-श्रद्धा तथा लोकापवादों का ही अधिक अंश है वास्तविकता का नहीं। महाभारत अपने सम्पूर्ण रूप में बहुत विशाल ग्रन्थ है, पर उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। इसी कारण उसे 'पंचम वेद' नाम दिया गया है। आवश्यकता थी इसके आधार पर श्रीकृष्ण-जीवन-सम्बन्धित कतिपय प्रमुख, प्रेरक, रोचक तथा कम ज्ञात जीवन-प्रसंगों को फिर से लिखने की। प्रस्तुत प्रयास उसका एक विनम्र रूप है। इसमें श्रीकृष्ण को ही केन्द्रबिन्दु माना है।

श्रीकृष्ण-जीवन से सम्बन्धित दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। एक है श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा लिखित 'कृष्णचरित्र' और दूसरा है श्री चमूपतिजी द्वारा लिखित 'योगेश्वर कृष्ण'। दोनों ही ग्रन्थ विशेष चर्चित हैं और श्रीकृष्ण-जीवनचरित-लेखन के आधार बनते हैं। इस लघु पुस्तिका में भी उन्हें ही आधार बनाया गया है। महाभारत तो इसका प्रमुख सन्दर्भ-ग्रन्थ है ही।

'मेरे तो गिरिधर गोपाल' प्रसिद्ध हिन्दी कवयित्री कृष्णभक्त मीराबाई की प्रसिद्ध पंक्ति है। इस पंक्ति में श्रीकृष्ण के गुणों के साथ सहज श्रद्धा और आदरभाव जैसा उमड़ पड़ा है। पुस्तक में 'गिरिधर' तथा 'गोपाल' इन विशेषणों की सार्थकता पर विचार भी है, पर मुझे इस पुस्तक का यह नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ है।

पुस्तक-लेखन की मूलप्रेरणा शहर आर्यसमाज हिण्डौन सिटी के उत्साही युवामन्त्री प्रियवर श्री प्रभाकरदेवजी आर्य की है। वे जन्माष्टमी के विशिष्ट अवसर पर एकत्र जनसमाज को यही उपहार

देना चाहते थे। प्रभुकृपा से उनकी यह इच्छा उनकी भावना के अनुरूप सिद्ध होवे यही कामना है।

पुस्तक का अधिकांश भाग जयपुर में श्रद्धेय श्री आर. के. अग्रवाल के आवास पर लिखा गया है। अत्यन्त व्यस्तता के कारण समय पर इस पुस्तक को लिख सकना मैं तो असम्भव ही मान बैठा था, पर उन्होंने स्वयं कष्ट सहन कर मुझे सब प्रकार की सुविधा प्रदान की, इसके लिए केवल उनके प्रति सादर आभार ही प्रदर्शित कर सकता हूँ।

पुस्तक जिस भावना और उद्देश्य से लिखी गई है यदि किञ्चित् अंश में भी उसकी पूर्णता हो सकी तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

ओम्प्रकाश वेदालंकार

१७, कृष्ण नगर, गोलबाग मार्ग,
भरतपुर (राजस्थान)
३० जून, १९८९

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
श्रीकृष्ण—महाभारत-युद्ध से पूर्व	६
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	६
गिरिधर गोपाल	१०
वंश-परिचय	१०
बालक कृष्ण—शिक्षा, प्रेरणा और लोक-कार्य	११
उपनयन तथा गुरुकुल-अध्ययन	१२
गिरिधर गोपाल—नामों की सार्थकता	१४
मथुरा में दिग्विजय	१७
विवाह व व्रतपालन	२१
मित्रता का आदर्श	२३
श्रीकृष्ण—महाभारत के नियामक	२६
पाण्डवों से सम्बन्ध	२६
जरासन्ध और शिशुपाल—निरंकुश राजाओं से विमुक्ति	३०
महाभारत का प्रारम्भ—चतुर दूत	३४
कुशल सारथि	३८
नीति-निपुण	४२
धर्ममूर्ति	४८
दिनचर्या	४६
शिष्टाचार और अभिवादन	५०
गीता के उपदेष्टा	५२
भीष्म से उपदेश	५३
उत्तर कृष्णचरित—महाभारत के पश्चात्	५४
उपसंहार	६०

श्रीकृष्ण—महाभारत-युद्ध से पूर्व

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

आनन्द-कन्द, योगिराज, आप्तपुरुष श्रीकृष्ण आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व बुधवार भाद्रपद मास की अष्टमी की अर्धरात्रि को मथुरा में माता देवकी की कोख से उत्पन्न हुए। उस समय रोहिणी नक्षत्र था और घनघोर वृष्टि हो रही थी। यही **'श्रीकृष्ण जन्माष्टमी'** नाम से विख्यात है। कालगणना में यह द्वापर युग का अन्तिम समय था। यह वह समय था जब भारत राजनैतिक व सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से छिन्न-भिन्न हो रहा था। कंस, जरासन्ध, शिशुपाल तथा कालनेमि जैसे अत्याचारी प्रबल शासकों और आक्रमणकारियों के आतंक से जन-सामान्य त्रस्त एवं विचलित था। हस्तिनापुर जैसा प्रबल साम्राज्य भीष्म जैसे धुरन्धर, परम-प्रतापी संरक्षक के होते हुए भी अपनी ही समस्याओं में निमग्न था। राज्य के उत्तराधिकारी धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने से अयोग्य थे। पाण्डु वीर होते हुए भी घरेलू समस्याओं के कारण साम्राज्य को सँभाल नहीं पाये।

श्रीकृष्ण यदुवंशी थे। उनके पिता वसुदेव एवं माता देवकी थी। इसी कारण वे वासुदेव तथा देवकीनन्दन कहलाये। उनका पालन-पोषण मथुरा से बाहर गोकुल में नन्द और यशोदा के घर हुआ। इसका प्रधान कारण यह था कि यद्यपि यादवों की राजधानी मथुरा

थी, पर यहाँ का राजा कंस था जिसने अपने पिता उग्रसेन से राज्य छीनकर स्वयं को राजा घोषित कर दिया था। यादवों के जितने भी कुल थे, वे परस्पर संगठित न थे। उन्हें कंस से अपने धन-जन के अपहरण का सदा भय बना रहता था। श्रीकृष्ण के साथ उनके बड़े भाई रोहिणी-पुत्र बलराम भी नन्द-यशोदा के घरेलू सुखद वातावरण में बड़े होने लगे। श्रीकृष्ण के जन्म के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ जो प्रचलित हैं उनका उल्लेख महाभारत में नहीं है।

'गिरिधर गोपाल'

'योगेश्वर कृष्ण' के अमर लेखक श्री चमूपतिजी ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"महाभारत का कृष्ण चक्रधर है, गदाधर है, असिधर है, मुरलीधर नहीं।"

श्रीकृष्ण की परम उपासिका मीराबाई ने महाभारत से पूर्व के श्रीकृष्ण की दो विशेषताओं का अत्यन्त तन्मयता से गान किया है—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोय"—इन दो विशेषणों में श्रीकृष्ण की जन-रक्षक तथा गो-रक्षक इन दो गुणों की विशेष महिमा गाई गई है। श्रीकृष्ण-चरित की महाभारत-पूर्व अनेक विशेषताओं में से ये दो विशेषताएँ उनके महान् चरित्र को उजागर करनेवाली हैं।

वंश-परिचय

श्रीकृष्ण का जन्म ईसवी सन् से तीन हज़ार वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष से कुछ अधिक पूर्व माना जाता है। वे प्रख्यात राजा ययाति और शुक्राचार्य की सुपुत्री देवयानी के पुत्र यदु के वंश में उत्पन्न हुए—इसी कारण यादववंशी कहलाये। इसी वंश में उत्पन्न सात्वत के पुत्र वृष्णि हुए। इसी उपवंश से सम्बद्ध होने के कारण श्रीकृष्ण वार्ष्णेय भी कहे गये। इस प्रकार श्रीकृष्ण वृष्णियों में से एक थे। इनके पितामह का नाम शूर, पिता का नाम वसुदेव

और माता का नाम देवकी था। इनके वंशों की संख्या उस समय १७ थी और इन कुलों में १८ हज़ार पुरुष थे। इनकी राज्यशैली संघीय थी जिसमें संघ-प्रमुख के होते हुए भी सब स्वतन्त्र और असहिष्णु थे। श्रीकृष्ण ने जिस वृष्णि वंश को अपने जन्म से सुशोभित किया, उस वंश की विशेषताओं का महाभारत में वर्णन है—

"वृद्धों की आज्ञा में चलते हैं। अपने बन्धु-बान्धवों का अपमान नहीं करते। ब्राह्मण, गुरु और सजातीय के धन के प्रति अहिंसा-वृत्ति रखते हैं।···धनवान् होकर भी अभिमान-रहित हैं। ब्रह्म के उपासक और सत्यवादी हैं। समर्थों का मान करते हैं और दीनों को सहायता देते हैं। सदा देवोपासना में रत, संयमी और दानशील रहते हैं। डींगें नहीं मारते। इसीलिए वृष्णि-वीरों का राज्य नष्ट नहीं होता।" —द्रोणपर्व १४४।२४-२८

श्रीकृष्ण ने वैदिक मर्यादानुसार शताधिक वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त की तथा महाभारत-युद्ध के ३६ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे। इनके पिता वसुदेव इनके बाद भी जीवित रहे।

बालक कृष्ण—शिक्षा, प्रेरणा और लोक-कार्य

श्रीकृष्ण का पालन-पोषण मथुरा से २½ मील दूर यमुना पार गोकुल ग्राम में हुआ। वहीं इनके बड़े भाई बलराम अपनी माता रोहिणी तथा बहिन सुभद्रा के साथ रहते थे। सुभद्रा को यहाँ का वेश इतना प्रिय था कि अर्जुन से विवाह के पश्चात् जब प्रथम बार ससुराल आई तो वह ग्वालिन के वेश में ही आई। गोकुल वसुदेव का ग्राम-गृह था जहाँ के खुले प्राकृतिक वातावरण में वे बच्चों का पालन-पोषण करना अच्छा समझते थे। श्रीकृष्ण की पालयित्री माँ यशोदा का महाभारत में कहीं नाम नहीं है। हरिवंशपुराण में अवश्य यशोदा का उल्लेख है। महाभारत में श्रीकृष्ण की माँ का विशेषण यशस्विनी आया है। इस सम्बन्ध में श्री चमूपतिजी लिखते हैं—"सम्भव है इस

विशेषण को ही कुछ समय पीछे यशोदा नाम की एक और माता का रूप मिल गया हो। सम्भव है रोहिणी की तरह 'यशस्विनी' देवकी-पुत्र कृष्ण को स्वयं पालती रही हो। यह भी सम्भव है कि यशोदा नाम की धायी रक्खी गई हो। उसकी लड़की उन्हीं दिनों पैदा होकर मर गई हो। इस अवस्था में उसकी माता के लिए कृष्ण को पालना सुगम होगा और वह उसकी उपयुक्त धायी रही होगी।"

'सूरसागर' में यशोदा श्रीकृष्ण के मथुरागमन पर देवकी को सन्देश देते हुए कहती है—

"मैं तो धाय तुम्हारे सुत की मया करत ही रहियो।"

इस कथन को आलंकारिक भी माना जा सकता है और यथार्थ भी।

श्रीकृष्ण के बाल्यजीवन का महाभारत में अधिक वर्णन नहीं है। वहाँ द्रोणपर्व (११।२) में इतना ही आया है—'गोपों के कुल में बढ़ रहे बच्चे कृष्ण ने अपनी भुजाओं का बल तीनों लोकों में प्रसिद्ध कर दिया था।" फिर भी शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को अर्घ्य दिये जाने का विरोध करते हुए जो आरोप लगाये हैं उनमें उनके बालजीवन की कुछ घटनाओं का संकेत है। इसी में उनपर 'पूतनाघात' का आरोप है। विष्णुपुराण के अनुसार पूतना एक स्त्री थी। उसका दूध पीते ही बच्चे मर जाते थे। बालक कृष्ण ने उसका वध कर गोकुल की रक्षा की। सुश्रुत के अनुसार 'पूतना' एक बालरोग का नाम भी है जो सम्भवतः गोकुल में फैल गया था। श्रीकृष्ण ने इस रोग से गोकुल की मुक्ति कराई, किन्तु श्री चमूपतिजी ने विष्णुपुराण के वर्णन को ही मान्यता दी है। शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को 'स्त्रीघ्न' (नारीहन्ता) भी कहा है। चमूपतिजी का कथन है—"कृष्ण के जीवन में पूतना को छोड़कर और किसी स्त्री के मारने की घटना नहीं हुई, अतः पूतना स्त्री ही है।"

उपनयन संस्कार और गुरुकुल-अध्ययन

श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव वैदिक संस्कारों के प्रति पूर्ण आस्थावान्

थे। भागवत के अनुसार जब श्रीकृष्ण और बलराम बड़े हुए तो दोनों का विधिपूर्वक वेदोक्त रीति से यज्ञोपवीत संस्कार कराया गया। संस्कार गृहपुरोहित श्री गर्गाचार्य के आचार्यत्व में सम्पन्न हुआ।

श्रीकृष्ण और बलराम दोनों को विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल भेज दिया गया। यह गुरुकुल श्री चमूपतिजी के अनुसार गोकुल के पास ही रहा होगा। एक मान्यता यह भी है कि उज्जैन में ऋषि सान्दीपनि का आश्रम ही इनका गुरुकुल रहा होगा। भागवतकार लिखते हैं—"श्रीकृष्ण और बलराम गुरुकुल में शिक्षा-प्राप्ति की इच्छा करते हुए काश्य-गोत्री, अवन्तीपुर (उज्जैन) के रहनेवाले गुरु सान्दीपनि मुनि के पास गये।" यहाँ उन्होंने छह वेदांग तथा उपनिषद्-सहित वेदों की शिक्षा प्राप्त की। साथ ही उन्होंने राजकुमारों के योग्य न्यायविद्या, धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, मीमांसादि का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और अश्रय इन छह भेदों से युक्त राजनीति का भी उन्हें अध्ययन कराया गया। दोनों भाई शस्त्रास्त्र चलाने में भी अत्यन्त निपुण थे जिसकी शिक्षा आगे चलकर औरों को भी देते रहे।

इनके गुरु के नाम के विषय में महाभारतकार मौन हैं। छान्दोग्योपनिषद् में देवकीपुत्र श्रीकृष्ण के गुरु का नाम आंगिरस घोर है। पुराणों के अनुसार आचार्य सान्दीपनि अथवा गर्ग ऋषि इनके गुरु थे। ऋषि सान्दीपनि के पास ये केवल ६४ दिन ही रहे। विष्णुपुराण के अनुसार वहाँ केवल धनुर्वेद सीखा। महाभारत में भीष्म श्रीकृष्ण की योग्यता के सम्बन्ध में शिशुपाल से कहते हैं—

वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥

—सभापर्व ३८।१९

वेदवेदांग, विज्ञान तथा शारीरिक बल में भी श्रीकृष्ण से अधिक और

कौन है ? इस सबकी शिक्षा निश्चयपूर्वक दोनों भाइयों को गुरुकुल मे ही प्राप्त हुई जहाँ से ये विधिवत् स्नातक हुए ।

गुरुकुल (गोकुल के समीपस्थ) आश्रम में विद्याध्ययन करते हुए भी ये दोनों भाई साथ-लगते गाँवों के जीवन में बढ़-चढ़कर भाग लेते थे और कई बार बड़ी-बड़ी भयंकर विपत्तियों से इन्होंने ग्रामवासियों की रक्षा की। यहीं उनका लोकरक्षक रूप प्रकट हुआ है। इन घटनाओं का खूब बढ़ा-चढ़ाकर चमत्कार के रूप में वर्णन किया गया है। उनके मूल में छिपे सत्य को अनुभव करने की आवश्यकता है।

पुराणों में तथा महाभारत के शिशुपाल-कथन में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है। अरिष्ट नामक पागल बैल को श्रीकृष्ण ने अपनी भुजाओं के बल से पटककर मार डाला। यह बैल गाँववालों के लिए विपत्ति-रूप था। यमुना के वन में विचरण करनेवाले, लम्बे बालोंवाले बनैले केशी नामक घोड़े को भी श्रीकृष्ण ने निहत्थे ही मार डाला। इसी से उनका नाम 'केशिसूदन' हुआ। भेड़ियों से गोकुलवासी जनों की रक्षा की। धेनुक नामक गर्दभराज और उसके साथी अन्य गधों के उत्पात से भी ब्रजवासियों को बचाया।

गिरिधर गोपाल : नामों की सार्थकता

'महाभारत' के सूत्रधार बनने से पूर्व श्रीकृष्ण के जीवन को कृष्णभक्त मीरा ने 'गिरिधर' और 'गोपाल' के सूत्रों में बाँधकर देखने का प्रयास किया है। 'गो' नाम केवल गायों का ही नहीं अपितु भूमि, इन्द्रिय, वाणी आदि अन्यों का भी है। श्रीकृष्ण वास्तविक रूप में 'गोपाल' थे। वे योगिराज, नितान्त संयमी, दृढ़-व्रती और इन्द्रिय-जयी थे जो उनके उज्ज्वल चरित्र की झाँकियों से स्थान-स्थान पर स्पष्ट होता है। गीता में इसी कारण श्रीकृष्ण को 'गुडाकेश' (निद्रा-संयमी) विशेषण से भी स्मरण किया है। विवाह के पश्चात् रुक्मिणी के साथ १२ वर्ष तक कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए बदरिकाश्रम में

निवास इसका अन्य उदाहरण है। भूमि-पालक तो वे थे ही, किन्तु गौओं के साथ ग्वालों के नेता श्रीकृष्ण का जीवन तो जैसे एक ही हो गया है। हज़ारों गौवों के स्वामी बाबा 'नन्द' के आँगन में क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण स्वयं वन-वन में गायों के साथ भ्रमण करने और उन्हें चराने में परमसुख का अनुभव किया करते थे। गोदुग्ध, मक्खन जैसा सात्त्विक आहार उनका प्रमुख भोजन था। प्रकृति का उन्मुक्त वातावरण उनका ओढ़ना-बिछौना था। गोप उनके प्रिय मित्र और सहायक थे। विपत्ति में उनकी सहायता करने से वे श्रीकृष्ण को अपना नेता मानने लगे थे। गायों के प्रति श्रीकृष्ण का स्नेह अनन्य और अनुपम था। इसीलिए वे 'गोपाल' थे। श्रीकृष्ण द्वारा गायों को सन्मान देने के कारण 'गोपाष्टमी' का पर्व आज भी मनाया जाता है। विष्णुपुराण में ऐसा वर्णन है कि एक बार गोपों का एक उत्सव आ गया। इस उत्सव में प्राचीन परम्परा के अनुसार कृषियज्ञ हुआ करता था, किन्तु नवीन परिवेश में श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया—'अब हमें हल और जुए की पूजा से क्या लाभ ? हमारे देवता अब गायें हैं या गोवर्धन पर्वत। गोवर्धन पर्वत गायों के चारे का साधन जुटाता है और गायें उसे चरकर खूब दूध देती हैं, अतः कृषियज्ञ के स्थान पर अब गोवर्धन और गायों का यज्ञ करना चाहिए। गोवर्धन-यज्ञ का तात्पर्य है कि इस अष्टमी के उत्सव के दिन सारी बस्ती वहीं चले। वहीं सब मिलकर यज्ञ करें। खूब खाएँ-खिलाएँ और आमोद-प्रमोद करें। कार्तिक मास में पर्वत फूलों से लदा हुआ है। इन्हीं फूलों से हम गायों को सजाएँ तथा खिला-पिलाकर खूब प्रसन्न करें।' सब ने श्रीकृष्ण के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। उस पुण्य घटना के स्मरण-रूप गोपाष्टमी का उत्सव अब भी उसी श्रद्धा और विश्वास के साथ मनाया जाता है। गौवों से इतना प्यार करने तथा उन्हें सम्मान देनेवाले श्रीकृष्ण 'गोपाल' नहीं तो और क्या कहे जाएँगे ! गाय आज भी भारतीय संस्कृति के पुण्य प्रतीकों में अन्यतम है।

मीरा ने श्रीकृष्ण को केवल भारतीय संस्कृति का रक्षक ही नहीं उन्हें 'गिरिधर' कहकर उनके लोकरक्षक-रूप को भी प्रधानता दी है। गोवर्धन पर्वत को उठाने से वे 'गिरिधर' हैं, पर पर्वत उन्होंने क्यों उठाया, किसके लिए उठाया, कब उठाया, इन प्रतीकों को समझने की आवश्यकता है। प्रतीकों को पूरी तरह समझ न सकने के कारण सामान्य जन इसे पूरी तरह हृदयंगम नहीं कर सके और कवियों ने अतिशयोक्ति का रूप देकर श्रीकृष्ण की एक अँगुली पर समूचे पर्वत को उठवा दिया। यह पर्वत-धारण क्या है ? महाभारत (सभापर्व ४१।९) में शिशुपाल श्रीकृष्ण के इस कार्य का उपहास करते हुए कहता है—"यदि कृष्ण ने वल्मीक-रूप गोवर्धन पर्वत को सात दिन तक उठा भी लिया तो हे भीष्म ! इसमें विचित्रता क्या है ?" किन्तु विदुर इसी घटना की महत्ता बताते हुए कहते हैं—

गोवर्द्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ।

—उद्यो० १२९।४९

हे भरतर्षभ ! श्रीकृष्ण ने गौवों के लिए गोवर्धन भी धारण किया। विष्णुपुराण के अनुसार एक बार वृन्दावन में भारी वर्षा हुई। सात दिन तक लगातार यह वर्षा होती रही। नदी-नाले भरकर बहने लगे। चारों ओर यमुना में बाढ़ आ गई। सबका उस बस्ती में रहना असम्भव हो गया। ऐसे संकट में श्रीकृष्ण गायों-सहित सम्पूर्ण बस्ती को उस गाँव से निकालकर ऊँचे स्थान गोवर्धन पर्वत पर ले गये। पर्वत को आवास-योग्य बनाने के लिए वृक्ष गिराये गये, हिंस्र जन्तुओं से वन खाली कराया गया। वहीं गुफाओं में श्रीकृष्ण अपनी मण्डली तथा बस्ती-सहित सब व्यवस्था को इतनी कुशलतापूर्वक सँभाले रहे कि लोग कहने लगे कि 'श्रीकृष्ण ने हमारी रक्षा क्या की—सम्पूर्ण पर्वत को ही अँगुली पर उठा लिया।' यही उनका गोवर्धन-धारण था जिससे वे गिरिधर कहलाये। 'प्रियप्रवास' महाकाव्य के अमर रचयिता, हिन्दी के मूर्धन्य कवि श्री अयोध्यासिंह हरिऔध ने

इस घटना के प्रतीक को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
व्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥

—प्रियप्रवास १२।६७

इस प्रकार श्रीकृष्ण के 'गिरिधर' और 'गोपाल' दोनों विशेषण अत्यन्त सार्थक और विचारयोग्य हैं।

मथुरा में दिग्विजय

गुरुकुल-स्नातक होने के पश्चात् जब श्रीकृष्ण और बलराम मथुरा लौटे, तब तक मथुरा में यादव-वंश का साम्राज्य परस्पर फूट और कलह के कारण निस्तेज हो चुका था। उनकी फूट का लाभ उठाकर मगध के सम्राट् और अपने श्वसुर जरासन्ध के पृष्ठ-बल पर कंस अपने पिता उग्रसेन को हटाकर स्वयं राजा बन बैठा था। इस समय कंस के पितामह भोज-वंश के आहुक और वृष्णियों में ज्येष्ठ अक्रूर की परस्पर अनबन होने से समस्त यादव-वीर दो दलों में विभक्त थे। मथुरा आकर श्रीकृष्ण ने इस तथ्य को तुरन्त अनुभव कर लिया कि इन वंशों के परस्पर मिले बिना सुदृढ़ यादव-वंश की स्थापना असम्भव है। इसके लिए नीतिनिपुण श्रीकृष्ण ने प्रथम कार्य यह किया कि आहुक की सुपुत्री सुतनू का विवाह अक्रूर से करा दिया। इससे दोनों वंशों में एकता स्थापित हो गई।

अब कंस को हटाकर मथुरा में यादव-वंश का संघीय शासन पुनः स्थापित करने का गुरुतर कार्य था। श्रीकृष्ण की पुण्यवती जननी देवकी कंस की चचेरी बहिन थी। इस सम्बन्ध से कंस श्रीकृष्ण के मामा थे। सीधे कंस को हटाना या मारना प्रजा के सम्भावित विद्रोह के कारण सम्भव न था। कंस भी श्रीकृष्ण और बलराम की

संगठित शक्ति, बल-पराक्रम और नीति-नैपुण्य से परिचित था। इन दो वीरों को समाप्त करने की मनोभावना से कंस ने मथुरा में धनुष-यज्ञ आयोजित किया जिसमें इन दोनों वीरों को भी आमन्त्रित किया। दिखावे के लिए इन दोनों के मथुरा पहुँचने पर आनन्दोत्सव मनाया गया।

धनुष-यज्ञशाला में प्रवेश करते ही श्रीकृष्ण ने धनुष तोड़ दिया। तत्पश्चात् कंस के दंगल में दोनों भाई प्रविष्ट हुए। पूर्व-योजना के अनुसार दंगल-क्षेत्र में प्रवेश करते ही इन दोनों भाइयों पर एक मदमस्त हाथी छोड़ा गया जिसे श्रीकृष्ण ने सरलता से मार डाला। कंस के रक्षक चाणूर और मुष्टिक नामक दो पहलवानों से मल्लयुद्ध का आमन्त्रण मिलने पर श्रीकृष्ण ने उसे स्वीकार कर लिया। कंस को अपने इन पहलवानों की शक्ति और बल पर पूरा भरोसा था, पर श्रीकृष्ण और बलराम भी इस विद्या में कम निपुण न थे। चाणूर ने श्रीकृष्ण और मुष्टिक ने बलराम से युद्ध करना स्वीकार किया। विष्णुपुराण (५।२०) के अनुसार कंस ने इन दोनों पहलवानों को पहले ही समझा दिया था कि अवसर मिलते ही दोनों का काम तमाम कर दें। परिणाम कंस की आशाओं के विपरीत हुआ। दो-एक दाँवों में ही दोनों पहलवान इन दो वीरों के हाथों मारे गये। अपने इन दोनों पहलवानों को परास्त देखकर कंस को क्रोध आ गया। जैसे ही कंस ने वसुदेव और नन्द के प्रति दुर्वचन कहे, वैसे ही श्रीकृष्ण ने झपटकर कंस के केश पकड़े और उसे सिंहासन से नीचे घसीट लिया। कंस मारा गया। कंस के भाई अक्षौहिणी-पति सुनामा ने श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया, जिसे बलराम ने तुरन्त मृत्यु-लोक पहुँचा दिया।

कंस के मरते ही प्रश्न था कि मथुरा का राज्य किसे सौंपा जाए? श्रीकृष्ण की बुद्धिमत्ता और नीति-निपुणता यहाँ एक बार पुनः देखने को मिली। यदि वे चाहते तो मथुरा के राजा स्वयं बन सकते

थे। किन्तु यह नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता न थी। उन्होंने अपने नाना और मथुरा के वास्तविक राजा उग्रसेन को फिर से राजा बनाया। यादव-संघ भी ऐसा ही चाहता था—इससे उपद्रव की सम्भावना वहीं समाप्त हो गई। श्रीकृष्ण ने कंस-वध अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं किया था। महाभारत (सभापर्व १४।६४) में वे स्वयं कहते हैं—'ज्ञातिकार्यं मया कृतम्'—कंसवध मैंने किसी वैर या शत्रुता के कारण नहीं किया अपितु बन्धु-बान्धवों के हित की दृष्टि से यह कार्य किया। उग्रसेन को राजा बनाने से भोजों को यह अनुभव हुआ कि वृष्णियों ने अपने साम्राज्य-प्राप्ति के उद्देश्य से यह कार्य नहीं किया। मथुरा का राज्य उन्हीं के पास रहने से जहाँ वे शान्त रहे, वहाँ प्रजा में भी किसी प्रकार के विद्रोह की आशंका नहीं रही।

कंस-वध के पश्चात् भी मथुरा का राज्य जरासन्ध और कालयवन के रहते पूर्णतः सुरक्षित न था। कंस के मारे जाने पर उसकी दोनों पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति अपने परमप्रतापी पिता मगध-सम्राट् जरासन्ध के पास पहुँचीं और बदला लेने की प्रार्थना की। जरासन्ध की सेना बहुत विशाल थी और उसके साथी अनेक राजा भी कम शूरवीर नहीं थे। इधर उसकी तुलना में यादवों की सेना बहुत थोड़ी थी। फिर भी श्रीकृष्ण के सैन्य संगठन और नेतृत्व के बल पर १७ बार यादवों ने जरासन्ध की विशाल सेना को पराजित कर दिया।

१८वीं बार जरासन्ध ने पुनः आक्रमण की योजना बनाई। इसी समय कालयवन नामक एक विदेशी बलशाली राजा ने अपनी सेना के साथ मथुरा को घेर लिया। दो दैत्यों से एक साथ निबटना मुट्ठी-भर यादव सेना के लिए सम्भव न था। ऐसे समय श्रीकृष्ण ने कूट-नीति से काम लिया। कालयवन से निबटने के लिए वे युद्ध की वेश-भूषा तथा शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर अकेले ही युद्धभूमि में उपस्थित हो गये। कालयवन ने श्रीकृष्ण को युद्धभूमि में अकेले ही

देखकर उनपर आक्रमण किया। श्रीकृष्ण वहाँ से भागकर एक गुफा में जा छिपे। यह उनकी नीति-निपुणता का एक अंश था, जिसके कारण उनके प्रशंसकों ने उन्हें 'रणछोड़' विशेषण दे डाला है। इसे उनकी कायरता या भयातुरता नहीं समझना चाहिए। उस गुफा में मुचुकुन्द नामक एक महापराक्रमी वीर पुरुष विश्राम कर रहा था। श्रीकृष्ण ने अपना पीताम्बर उसके ऊपर डाल दिया और स्वयं वहीं एक ओर छुप गये। कालयवन ने उसे ही कृष्ण समझकर उसे एक लात मारी। मुचुकुन्द क्रोध में उठा और द्वन्द्वयुद्ध में कालयवन को मृत्युलोक पहुँचा दिया। इस प्रकार कालयवन से सहज ही छुटकारा मिल गया।

कालयवन से छुटकारा प्राप्त कर श्रीकृष्ण पुनः मथुरा लौटे। वहाँ जरासन्ध अठारहवीं बार अपनी सेना के साथ आक्रमण करने की तैयारी में था। उसकी सेना पहले से भी अधिक विशाल और अजेय थी। श्रीकृष्ण बहुत दूरदर्शी थे। व्यर्थ की हिंसा, हत्या और अपनी शक्ति का उन्हें झूठा अभिमान न था। उन्होंने यादवों से परामर्श किया और सलाह दी कि यहाँ से दूर समुद्र-तट पर सुरम्य और सुदृढ़ द्वारिकापुरी तथा गढ़ बनाया जाए और अपने प्रमुख वंशों के साथ मथुरा से वहाँ प्रस्थान किया जाए। श्रीकृष्ण के इस परामर्श को स्वीकार कर १७ यादव-कुल द्वारिकापुरी की ओर प्रस्थान कर गये। वहाँ का दुर्ग इतना दृढ़ तथा अनुकूल था कि एक ओर समुद्र था और दूसरी ओर स्वयं महाभारत के अनुसार—

स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः।

—सभापर्व १४।५१

वहाँ पुरुषों की तो बात क्या स्त्रियाँ भी उस दुर्ग में रहकर शत्रुओं का सामना कर सकती थीं।

श्रीकृष्ण की महान् दिग्विजय का यह प्रथम चरण था।

विवाह व व्रतपालन

विदर्भ के बलशाली और कुलीन राजा भीष्मक थे, जो जरासन्ध के प्रभाव में थे। उनकी गुणवती सर्वांग सुन्दर कन्या रुक्मिणी तथा पुत्र रुक्मि था। उन्होंने अपनी सुपुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया तथा जरासन्ध के सेनापति शिशुपाल से रुक्मिणी के विवाह की योजना बनाई, किन्तु श्रीकृष्ण के गुणों से मोहित रुक्मिणी श्रीकृष्ण से ही विवाह करना चाहती थी। एक वृद्ध ब्राह्मण को दूत बनाकर उसने अपना प्रणय-निवेदन द्वारिका पहुँचाया। उसकी प्रार्थना और इच्छा को स्वीकार कर विवाह से एक दिन पूर्व श्रीकृष्ण विदर्भ देश की राजधानी कुण्डनपुर पहुँचे और अवसर प्राप्त कर रुक्मिणी को रथ पर बैठाकर द्वारिका की ओर चल पड़े। शिशुपाल के विरोध और आक्रमण को सेना-सहित आये बलराम ने निष्फल कर दिया। रुक्मिणी के भाई रुक्मि ने विरोधस्वरूप श्रीकृष्ण का पीछा किया, किन्तु समीप आने पर योगिराज श्रीकृष्ण का उस-पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। श्रीकृष्ण की सुन्दर छवि और शील की यह विजय थी। इसी स्थान पर इस घटना की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए एक नये नगर की स्थापना हुई जिसका नाम भोजकट रक्खा गया। द्वारिका पहुँचकर श्रीकृष्ण का रुक्मिणी के साथ वैदिक रीति से विधिवत् विवाह हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण की लक्ष्मी का अंश-रूप यही एकमात्र पत्नी थी। राधा का उल्लेख महाभारत में ही नहीं अपितु हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्‌भागवत जैसे प्रसिद्ध पुराणों तथा भासकविकृत 'बालचरित नाटक' में भी कहीं नहीं है। केवल ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा की साधारण चर्चा है तथा अन्य गोपियों के साथ कृष्ण के अश्लील सम्बन्धों की चर्चा की गई है। बाद के भक्तकवि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास तथा सूरदास आदि ने ही राधा को श्रीकृष्ण की पत्नी बताकर अनैतिक सम्बन्धों का

वर्णन किया है। वस्तुतः केवल रुक्मिणी ही श्रीकृष्ण की धर्मपत्नी, हृदयेश्वरी और गृहलक्ष्मी थी, जिसे महाभारत (सभा ४५।१५) में भरी सभा में शिशुपाल से स्वयं श्रीकृष्ण ने 'वेद की ऋचा' (वेद-श्रुतीमिव) कहकर उपमित किया है, जिससे श्रीकृष्ण की दृष्टि में उसकी गौरवशाली महिमा का पता चलता है।

श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का गुण-शील-रूप में श्रीकृष्ण के समान एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम प्रद्युम्न था, जिसे श्रीकृष्ण 'मे सुतः' (मेरा पुत्र) कहकर गर्व अनुभव किया करते थे। यह पुत्र दोनों ने बदरिकाश्रम में १२ वर्ष तक एक साथ कठोर ब्रह्मचर्यव्रत-पालन के पश्चात् प्राप्त किया था, जिसका वर्णन स्वयं महाभारत में हुआ है। महाभारत-युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अश्वत्थामा श्रीकृष्ण से सुदर्शन-चक्र प्राप्त करने की इच्छा से उनके पास गये, तब श्रीकृष्ण ने बड़ा सटीक उत्तर दिया है—

ब्रह्मचर्यं महद् घोरं चीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्
हिमवत्पार्श्वमास्थाय यो मया तपसार्जितः।
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः॥

—महाभारत सौप्तिकपर्व १२।३०-३१

मैंने १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करके हिमालय की कन्दराओं और गिरि-गुहाओं में रहकर बड़ी तपस्या के द्वारा जिसे प्राप्त किया था, मेरे समान व्रत का पालन करनेवाली रुक्मिणी देवी के गर्भ से जिसका जन्म हुआ है, जिसके रूप में साक्षात् तेजस्वी सनत्कुमार ने ही मेरे यहाँ जन्म लिया है, वह प्रद्युम्न मेरा प्रिय पुत्र है। मेरा यह दिव्य चक्र तो कभी उसने भी नहीं माँगा।

श्रीकृष्ण एकपत्नीव्रती थे, इसका गौरवगान प्रसिद्ध 'कृष्ण-चरित्र' के विश्रुत लेखक श्री बंकिमचन्द्र ने भी अपनी उक्त पुस्तक में किया है। उनका यह निश्चित मत था कि केवल रुक्मिणी ही कृष्ण की

रानी थी।

मित्रता का आदर्श

श्रीकृष्ण के प्रख्यात अनुकरणीय गुणों में सर्वाधिक चर्चित है उनकी आदर्श मित्रता। दो सच्चे सखाओं को परस्पर कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसकी सर्वाधिक सुन्दर चर्चा भर्तृहरि ने की है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति चेताः॥

सन्मित्र वही है—

(१) जो अपने मित्र को पाप से बचाए।
(२) हितकारी कार्यों में संलग्न करे।
(३) उसकी गोपनीय बातों को प्रकट नहीं करता।
(४) मित्र के गुणों का सर्वत्र बखान करता है।
(५) विपत्ति में कभी साथ नहीं छोड़ता।
(६) समय पड़ने पर उसकी सहायता करता है।

महाभारत-काल में दोनों प्रकार के मित्र थे। एक ओर द्रोण के बालसखा राजा द्रुपद जैसे मित्र थे। आवश्यकता पड़ने पर जब द्रोण राजा द्रुपद के महल में गये और सहायता की याचना की, तब द्रुपद ने यह कहकर उनका अपमान किया कि 'राजा और भिखारी की मित्रता कैसी? मित्रता तो बराबरवालों में होती है!' यद्यपि गुरुकुलवास में वह शपथपूर्वक द्रोण को आधा राज्य देने का वचन दे चुका था। दूसरी ओर उसी काल में श्रीकृष्ण थे जिन्होंने सहाध्यायी, निर्धन मित्र सुदामा और वीर योद्धा अर्जुन से मित्रता कर एक आदर्श मित्र का उदाहरण उपस्थित कर दिया। अर्जुन से उनकी मित्रता कितनी घनिष्ठ थी, यह इसी बात से प्रकट है कि द्विवचन

'कृष्णौ' शब्द से कृष्ण और अर्जुन का ग्रहण किया जाता है। अर्जुन उनका अपना ही रूप था। महाभारत (भीष्मपर्व १०७ अध्याय) में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते॥

'हे युधिष्ठिर! तुम्हारा भाई अर्जुन मेरा मित्र है, सम्बन्धी है और शिष्य भी है। उसके लिए तो मैं अपने शरीर का मांस भी काटकर दे सकता हूँ।' वनवासकाल में जब श्रीकृष्ण वन में पाण्डवों से मिलने गये, तब अर्जुन ने अपने सब कष्ट और अपमान की गाथा श्रीकृष्ण को सुनाई। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥

—महाभारत वनपर्व १२।४५

'हे अर्जुन! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो तुमसे शत्रुता रखता है वह मेरा भी शत्रु है और जो तुम्हारे अनुकूल है वह मेरे भी अनुकूल है।'

अर्जुन के अतिरिक्त बालसखा व सहाध्यायी विप्र सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता भी एक उदाहरण बन गई है जिसे लेकर बंगला, मराठी, संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के कितने ही कवियों ने अपनी लेखनी को पवित्र किया है। इन्हीं में 'सुदामा चरित' के स्वनामधन्य अमर लेखक हिन्दी के महाकवि नरोत्तमदास भी हैं जिनका यह लघु-काव्य सबके हृदय का हार बना हुआ है।

सुदामा की कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८०वें अध्याय में श्रीदामा-कथा के नाम से वर्णित है। श्रीकृष्ण जब अवन्तिकापुरी उज्जैन में कुलपति सान्दीपनि मुनि के गुरुकुल में विद्याभ्यास करते थे तब उनके सहपाठियों में सुदामा नाम का एक ब्राह्मण भी था। प्राचीनकाल के इन गुरुकुलों में निर्धन-सधन या छोटे-बड़े का किसी

भी प्रकार का भेदभाव नहीं था। दोनों सहपाठियों में परस्पर अनन्य अनुराग था तथा दोनों पूरे मन से गुरु की सेवा में संलग्न रहते थे। यज्ञ के लिए समिधा लाने के लिए भी वे दोनों एक साथ वन में जाया करते थे।

विद्याध्ययन की समाप्ति पर दोनों मित्र गुरुकुल से अपने-अपने घरों को लौट आये। कालान्तर में श्रीकृष्ण तो भोज, वृष्णि और अन्धक नामक गणतन्त्रों के नेता होकर द्वारका चले गये और सुदामा अपने गाँव में ब्राह्मण-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने लगे। गुजरात में अब भी सुदामापुरी नाम का एक गाँव है जिसे सुदामा का मूल निवास-स्थान समझकर श्रद्धालु जन तीर्थयात्रा के लिए वहाँ जाते हैं।

सुदामा की आर्थिक अवस्था दयनीय हो गई, पर श्रीकृष्ण की मित्रता का उल्लेख वे यदा-कदा अपनी पत्नी से करते रहते थे—

कह्यौ सुदामा एक दिन, कृस्न हमारे मित्र।

—सुदामा चरित ६

पत्नी ने कहा—

कहत नरोत्तम संदीपनि गुरु के पास।
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं॥६॥
जो पै भरि जनम दरिद्र ही बितायौ तो पै
कौने काज आइहै कृपानिधि की मित्रई॥२०॥

निःस्पृह सुदामा पत्नी की इस प्रेरणा पर भी जाने के लिए तत्पर नहीं हुए। उनकी भावना यही है—

भूलि बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये॥२१॥

वे अपनी पत्नी से खीजकर कहते हैं—

स्याम सों मिताई मैं तो जब तें जताई या सों,
तबहीं ते मेरे पाछे काढ़िबे को परी है॥२६॥

कृष्ण से मित्रता की चर्चा क्या की, उलटी मुसीबत ही मोल ले ली।

द्वारका पहुँचकर सुदामा श्रीकृष्ण को द्वारपाल द्वारा अपने

गुरुकुल में सहाध्ययन का ही परिचय स्मरण कराते हैं—

नाम सुदामा कृस्न हम, पढ़े एकई साथ।
कुल पाँडे, ब्रजराज सुनि, सकल जानिहैं गाथ ॥३८॥

दो मित्र जब आपस में पुन: मिलते हैं—

नैन दोऊ जल भरि पूछत कुसल हरि,
विप्र बोल्यौ विपदा में मोहिं पहचानै को ?
जैसी तुम कीन्ही तैसी करै को कृपा के सिंधु,
ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सों मानै को ? ॥४१॥

कृष्ण सुदामा के पाँवों में लोटपोट हो गये, नेत्रों में जल भर आया, कुशल-क्षेम पूछने लगे। सुदामा कहने लगे—'इस विपत्ति में भी आपने मुझे पहचानकर स्वीकार किया। हे कृपा-सिन्धु ! दीनबन्धु ! जो आपने किया है, दीनों पर कृपा करनेवाला और कौन कर सकता है ?'

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने मित्र सुदामा का जो आतिथ्य किया, कवि नरोत्तमदास ने उसे साकार कर दिया है—

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं नैनन के जल सों पग धोए ॥४०॥

करुणानिधि कृष्ण के नेत्रों से सुदामा की दीन दशा देखकर अविरल आँसू बह चले। पग धोने के लिए लाई पानी की परात उन्होंने छुई भी नहीं, नेत्रों के जल से ही सुदामा के पग धो डाले।

दो मित्रों के इस मिलाप में किसी प्रकार का दुराव, छल-कपट या दिखावा न था। रुक्मिणी को यही चिन्ता हुई—

करत सुदामा आप सो, होत सुदामा आप ॥६०॥

उसने विनय-भाव से कहा भी—

रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी ॥६१॥

'रंक (सुदामा) को सब-कुछ देकर राजा बनाना चाहते हो और स्वयं उसके समान भिखारी होने की इच्छा है ?' श्रीकृष्ण ने सहजभाव से जो उत्तर दिया है वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है—

लोक कहैं हरि-मित्र दुखी, हम पै न सह्यो यह जात कलंका ।।६२।।
लोग यदि कहें कि हरि का मित्र भी दुःखी है तो हमें यह कलंक सहन नहीं होता ।

सुदामा सात दिन श्रीकृष्ण के अतिथि रहे, पर उनके आदर-सत्कार में किसी प्रकार की न्यूनता न आई । विदाई-वेला भी आई । तब—

मित्र-वियोगी कृस्न के, नेत्र चली जलधार ।।७५।।

सुदामा तो मित्र कृष्ण से कुछ लेने आया था, पर माँगने का साहस जुटा नहीं पाया, अतः मन में विचार करने लगा—

इतनो मम आदर कियो, दियो न कछु मोहि स्याम ।

ये वही तो श्याम हैं जो बचपन में—

घर घर कर ओड़त फिरे, तनक दही के काज ।
कहा भयौ जो अब भयौ, हरि को राज समाज ।।८२।।
बालापन के मित्र हैं, कहा देउँ मैं साप ।
जैसो हरि हमको दियो, तैसो पइहौ आप ।।८४।।

ये वे ही तो श्याम हैं जो बचपन में थोड़ी दही के लिए घर-घर हाथ फैलाते फिरते थे । अब राजा बन बैठे तो क्या हुआ ? बचपन के मित्र हैं, अतः उन्हें शाप भी क्या दूँ ? पर इतना निश्चय है कि उन्होंने जैसा किया है वैसा ही वे भरेंगे भी ।

पर श्रीकृष्ण तो बिना कुछ कहे सुदामा को सब-कुछ दे चुके थे । सुदामापुर द्वारिका से भी अधिक सुन्दर बन गया । कवि के शब्दों में—

जानो नहिं बिपति सुदामाजू की कहाँ गई,
देखिये बिधान जदुपतिजू के दान के ।।१४६।।

श्रीकृष्ण और सुदामा की इस मित्रता पर अपनी टिप्पणी करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक व कवि श्री रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं—

"सुदामा को श्रीकृष्ण ने जितना दिया होगा, उससे भी अधिक देनेवाले अन्य राजा-महाराजा हो चुके हैं, पर उनके दान में अभिमान और एहसान का लोभ ही मुख्य अंश होता था। श्रीकृष्ण के दान में स्वाभाविक नम्रता, सात्त्विक प्रेम और मित्र की दीन दशा पर सहानुभूति की अन्तःपीड़ा बसी हुई थी। मित्रता का ऐसा निर्वाह कहीं देखने में नहीं आया।" □

श्रीकृष्ण–महाभारत के नियामक

पाण्डवों से सम्बन्ध

गीता के अन्तिम श्लोक में संजय कहते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ १८।७८

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धर कुन्तीपुत्र अर्जुन है, वहीं श्री विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है।' इन पाण्डु-पुत्र अर्जुन और श्रीकृष्ण का प्रथम परिचय राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी (याज्ञसेनी) के स्वयंवर में उस समय हुआ जब ब्राह्मण-वेश में अपने भाइयों के साथ अर्जुन भी वहाँ उपस्थित था। उस दिन से यह सम्बन्ध घनिष्ठ होता चला गया। खाण्डव वन के दाह और नवीन राज्य की स्थापना के दुष्कर कार्य में श्रीकृष्ण की सहायता तथा मार्गदर्शन पाण्डवों को प्राप्त हुआ। इन्द्रप्रस्थ नगर की स्थापना हुई। तीर्थयात्रा के लिए अर्जुन प्रभास पहुँचे। श्रीकृष्ण सप्रेम अर्जुन को द्वारिका ले-आये। यहीं बलराम और श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का अर्जुन से परिचय हुआ। कुछ काल में ही सब ज्येष्ठों की अनुमति से दोनों का इन्द्रप्रस्थ नगरी में शुभविवाह हुआ। स्वयं बलराम तथा अन्य यादव वीर इस अवसर पर उपस्थित थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन का मैत्री-सम्बन्ध और अधिक दृढ़ हो गया। खाण्डव वन के दाह के समय मय नामक एक विदेशी शिल्पी के प्राणों की रक्षा अर्जुन ने की थी। आभारस्वरूप श्रीकृष्ण

के परामर्श पर उसने युधिष्ठिर के लिए एक ऐसे भवन का निर्माण किया जिसका शिल्प देखने योग्य था।

जरासन्ध और शिशुपाल—निरंकुश राजाओं से विमुक्ति

इन्द्रप्रस्थ को राजधानी बना महाराज युधिष्ठिर ने अपने राज्य का खूब विस्तार किया। उसके सुन्दर राज्य-प्रबन्ध में देशी-विदेशी सभी प्रजा सुख और चैन की बंसी बजाने लगी। युधिष्ठिर की यह इच्छा थी कि राजसूय यज्ञ द्वारा राज्य का और विस्तार किया जाए, किन्तु इस समय मगध-सम्राट् जरासन्ध तथा चेदिराज शिशुपाल दो ऐसे निरंकुश सम्राट् थे जिनके रहते युधिष्ठिर का सम्राट् बनना सम्भव न था। इन दोनों में भी जरासन्ध अपनी शक्ति, पाशविक बल और अत्याचारों से सबकी आँखों का काँटा बना हुआ था। युद्ध में उसे पराजित करना सम्भव न था। १७ बार विशाल सेना के साथ मथुरा पर आक्रमण करने के कारण श्रीकृष्ण उसकी शक्ति से भली-भाँति परिचित थे। युधिष्ठिर भी यह अनुभव करते थे कि जरासन्ध को युद्ध में स्वयं यम भी नहीं हरा सकता। युद्ध का तात्पर्य था—जनक्षय। इसके लिए युधिष्ठिर किसी भी प्रकार तैयार न थे। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि जरासन्ध से युद्ध करने की अपेक्षा मुझे सम्राट्-पद अभीष्ट नहीं है।

श्रीकृष्ण नीति-निपुण थे। समस्त परिस्थिति को भली-भाँति समझते थे। वे यह भी जानते थे कि जरासन्ध केवल वीर ही नहीं था, अपितु इतना क्रूर भी था कि उसने ८६ राजा कैद कर रखे थे और उसका संकल्प था कि इनकी संख्या सौ होते ही वह महादेवजी के सम्मुख इन सबकी नर-बलि दे देगा। श्रीकृष्ण अपनी पूर्व-शत्रुता के कारण नहीं, अपितु उसके इस घिनौने संकल्प के कारण युक्ति से उसे पराजित करना चाहते थे।

जरासन्ध के विनाश के लिए श्रीकृष्ण ने इस समय जो उपाय

स्वीकार किया वह उन जैसे कर्मकुशल और नीतिनिपुण वीर के लिए ही सम्भव है। गीता में "योगः कर्मसु कौशलम्" कहकर इसे ही योग कहा गया है। रक्त की एक बूँद भी न गिरे और नृशंस शत्रु का विनाश हो जाए—यह परम बुद्धिमत्ता का विषय था।

जरासन्ध के विनाश की योजना बना श्रीकृष्ण भीम और अर्जुन स्नातक-वेश में मगध पहुँचे। जरासन्ध कैसा ही अत्याचारी था किन्तु उसका यह नियम था कि कोई ब्राह्मण अथवा स्नातक उससे मिलना चाहे तो आधी रात में भी उससे मिल सकता था। श्रीकृष्ण इस बात से परिचित थे। मगध की राजधानी राजगृह पहुँचकर उन्होंने कुछ असामान्य कार्य किये। एक माली से पुष्पमालाएँ छीनकर उन्होंने धारण कर लीं। नगर के चारों ओर पर्वतशृंग थे। उनमें से एक को तोड़कर उन्होंने नगर में प्रवेश किया। भीम और अर्जुन दोनों ने मौन व्रत धारण कर लिया। राजमहल पहुँचकर श्रीकृष्ण ने परिचय दिया कि इन दो स्नातकों ने मौनव्रत धारण किया हुआ है जिसे आधी रात को तोड़ेंगे—तभी बातचीत हो सकेगी। जरासन्ध ने मधुपर्क आदि से उनका स्नातकोचित सत्कार किया और यज्ञशाला (अतिथि-शाला) में उनके निवास का प्रबन्ध करा दिया। आधी रात में जब वह इनसे मिलने आया, तबतक पर्वतशृंग तोड़ने आदि का वृत्तान्त सुन चुका था। भुजाओं पर धनुष की डोरी के चिह्न देखकर उसने उनका परिचय पूछा। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"हम क्षत्रिय स्नातक हैं। पुष्पमाला सौभाग्य का चिह्न होने से धारण की है। मौनी इस-लिए हैं कि क्षत्रिय वाक्-शूर नहीं होता। द्वार से न आने का कारण यह है कि आप हमारे शत्रु हैं। शत्रु के नगर में द्वार तोड़कर जाना चाहिए।"

जरासन्ध ने कहा कि "आपकी और हमारी शत्रुता कैसी है?" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"तू जाति-घातक है। अपनी ही जाति के क्षत्रिय राजाओं को बलि के उद्देश्य से तूने बन्दी बना रक्खा है। मैं

वसुदेव-पुत्र वासुदेव कृष्ण हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र भीम और अर्जुन हैं। या तो तू उन राजाओं को छोड़ दे, अन्यथा हममें से किसी से भी द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार हो जा।"

जरासन्ध ने द्वन्द्व-युद्ध के लिए भीम से मल्लयुद्ध करना स्वीकार किया। दूसरे नगर के सम्भ्रान्त पुरुषों के सम्मुख कुश्ती हुई। दोनों ही योद्धा अपराजेय थे। कार्तिक मास की प्रथमा से लेकर तेरस तक लगातार द्वन्द्व-युद्ध होता रहा। चौदस की रात जरासन्ध थककर हटने लगे। अवसर को ताड़कर श्रीकृष्ण ने 'वायुसुत' कहकर भीम को प्रोत्साहित किया और स्मरण कराया कि जरासन्ध का अधोभाग दुर्बल है। भीम ने इस प्रोत्साहन को प्राप्त कर जरासन्ध को दोनों टाँगों से पकड़कर चीर दिया जिससे उसके दो टुकड़े हो गये। विजय भीम की हुई। जरासन्ध के मरते ही श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम बन्द राजाओं को मुक्त किया और मगध का राजसिंहासन जरासन्ध के पुत्र सहदेव को अर्पित कर दिया। बिना रक्तपात के जरासन्ध जैसे दुर्धर्ष सम्राट् का विनाश कर देना श्रीकृष्ण का ही कार्य था।

अर्घ्य-दान—दूसरा स्वेच्छाचारी बलवान् राजा चेदिनरेश शिशुपाल था जो रुक्मिणी-विवाह के समय से ही श्रीकृष्ण से नाराज़ था; उसका विनाश भी आवश्यक था। इसके लिए भूमिका बँधी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रारम्भ में।

जरासन्ध-वध के तुरन्त पश्चात् युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की तैयारी प्रारम्भ हो गई। युधिष्ठिर के चारों भाई सेना-सहित दिग्विजय के लिए निकल पड़े। अर्जुन उत्तर, भीम पूर्व, सहदेव दक्षिण तथा नकुल पश्चिम की ओर गये। राजसूय यज्ञ में अन्य राजाओं के साथ हस्तिनापुर से भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, अश्वत्थामा आदि भी आये। व्यवस्था के काम सबको यथायोग्य बाँट दिये गये। दुःशासन भोजन के प्रबन्ध पर, अश्वत्थामा ब्राह्मणों के स्वागत-सत्कार पर, भीष्म और द्रोण देख-भाल पर, संजय राजाओं के स्वागत पर, कृप सोने-पन्ने

आदि के निरीक्षण पर, विदुर व्यय पर तथा दुर्योधन उपहार-स्वीकृति पर नियुक्त हुए। श्रीकृष्ण ने स्वयं—

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।

—सभा० ३५।१०

अपनी विनम्रतावश यज्ञशाला की सुरक्षा और ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन का कार्य स्वीकार किया। यह उनकी विनम्रता और महानता का अन्य उदाहरण था।

युधिष्ठिर की दीक्षा के पश्चात् अर्घ्य देने की विधि पूर्ण करने की प्रार्थना युधिष्ठिर ने भीष्म से की। सबसे पूर्व अर्घ्य किसे दिया जाए? भीष्म ने कहा कि 'अर्घ्य सदा आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक और राजा को दिया जाता है और उपस्थित सज्जनों में ही नहीं, पृथिवी-भर में केवल कृष्ण ही अर्घ्य दिये जाने के उत्तम अधिकारी हैं'—

वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्री कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टः पुष्टिश्च नियताच्युते॥

—सभा० ३८।१६-२०

'ये वेद-वेदांगों के मर्मज्ञ हैं। सर्वाधिक बलशाली हैं, संसार में इनसे बढ़कर अन्य कौन हैं? दान, दक्षता, शास्त्र-ज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि ये सभी सद्गुण श्रीकृष्ण में नित्य विद्यमान हैं।' धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा प्राप्त कर सहदेव अर्घ्य लाया और विधिवत् श्रीकृष्ण को भेंट दिया गया।

इसी सभा में श्रीकृष्ण का फुफेरा भाई चेदिराज शिशुपाल भी उपस्थित था। वह श्रीकृष्ण के इस तेज और महत्ता को सहन नहीं कर सका। वह क्रोध में भरकर बोला—"कृष्ण राजा नहीं हैं। कृष्ण वृद्ध भी नहीं है, क्योंकि इनके पिता वसुदेव भी यहाँ उपस्थित हैं। सम्बन्धियों व आत्मीयों में द्रुपद इनसे अधिक घनिष्ठ हैं। ऋत्विजों

में व्यास, शस्त्रधारियों में अश्वत्थामा, राजाओं में दुर्योधन तथा आचार्यों में कृप श्रेष्ठ हैं, अतः श्रीकृष्ण को अर्घ्य देना दूसरों का निरादर करना है।" भीष्म, युधिष्ठिर आदि के समझाने पर भी शिशुपाल नहीं माना। उसने भरी सभा में श्रीकृष्ण को अपशब्द कहने प्रारम्भ कर दिये। उन्हें स्त्रीघातक, गोघातक, गोप, पेटू, कृतघ्न, छली, क्या-कुछ नहीं कहा। श्रीकृष्ण इतने सहनशील कि मौन बने हुए सब-कुछ सुनते रहे। शिशुपाल ने उपस्थित राजाओं को अपनी ओर आने का आमन्त्रण भी दिया तथा अन्त में श्रीकृष्ण को युद्ध के लिए ललकारा।

किसी क्षत्रिय का युद्ध का आह्वान सुनकर चुपचाप बैठना कायरता का चिह्न होता। प्रथम तो श्रीकृष्ण ने शिशुपाल के कुकृत्यों को प्रकट किया जिसे जानकर उपस्थित राजा शिशुपाल से घृणा करने लगे। श्रीकृष्ण ने कहा कि अब तक तो मैं बुआ के कहने से तेरे अपराधों को क्षमा करता रहा, परन्तु अब तूने सीमा को भी पार कर लिया है। ऐसा कहकर सबके देखते-देखते सुदर्शन चक्र द्वारा शिशुपाल का सिर काट दिया। शिशुपाल के मरने पर शास्त्र-विहित रीति से उसका दाहसंस्कार किया गया और उसी सभा में उसके पुत्र का उसके स्थान पर राज्याभिषेक करा दिया।

इस प्रकार राजसूय यज्ञ की पूर्णता के साथ-साथ जरासन्ध और शिशुपाल दोनों ही रंगपटल से विदा हो चुके थे।

महाभारत का प्रारम्भ—चतुर दूत (लोकमंगल की साधना)

दुर्योधन और शकुनि के छल-प्रपंच में फँसकर किस प्रकार युधिष्ठिर द्यूत (जूए) के बहाने अपना राज्य, भाई और यहाँ तक कि पत्नी द्रौपदी को भी हार गये, यह एक अलग कहानी है। दूसरी बार भी जुए में हारकर १२ वर्ष के वनवास तथा १ वर्ष के अज्ञातवास की शर्त पूरी करने के लिए वे द्रौपदी-सहित इन्द्रप्रस्थ छोड़कर प्रवास में चले गये। भरी सभा में द्रौपदी अपमानित हुई। श्रीकृष्ण शाल्व

से युद्ध करने में व्यस्त होने से वहाँ उपस्थित नहीं हो सके। द्वैतवन में पाण्डवों से मिलने पर उन्होंने युधिष्ठिर से कहा था—

यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा,
आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन्।

—महाभारत, वनपर्व १३।१-२

यदि मैं द्वारिका में होता तो बिना बुलाये भी जूए के समय वहाँ पहुँच जाता और जूए के अनेक दोष दिखाकर उसे रोकने का प्रयत्न करता।

वनवास और अज्ञातवास का समय पूरा होने पर भी पाण्डवों का राज्य लौटाने के लिए दुर्योधन तैयार नहीं हुआ। परिणामस्वरूप दोनों ओर युद्ध की तैयारी होने लगी।

श्रीकृष्ण इस सम्भावित युद्ध के भयंकर परिणामों से भली-भाँति परिचित थे, यद्यपि उन्हें निश्चय था कि यदि युद्ध हुआ तो विजय अर्जुन की ही होगी। पर युद्ध के परिणाम बड़े भयंकर थे। यदि महाभारत का यह युद्ध टाला जा सकता तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता। लोकमंगल की इच्छा से श्रीकृष्ण सर्वात्मना इस युद्ध के विपरीत थे। उन्होंने सन्धि के लिए प्रयास भी कम नहीं किये। उन्होंने निश्चय किया कि 'मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा और दुर्योधन को समझाऊँगा। यदि वह समझ गया तो पुण्य मुझे भी प्राप्त होगा और कौरव मृत्युपाश से बच जाएँगे।' जाने से पूर्व वे द्रौपदी से भी मिलने गये। आँसू बहाते हुए द्रौपदी ने एक बात कही—

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धतः,
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छताम्।

—उद्योग० ८१।३६

'हे कृष्ण! सन्धि करने जा तो रहे हो, पर कहीं किसी प्रकार की दुर्बलता प्रकट न करना। शत्रुओं से सन्धि की बात जब आये तब

दुष्ट दु:शासन के करों से खींचे गये मेरे इन बालों का स्मरण अवश्य कर लेना ।'

महाभारत का युद्ध भावी पीढ़ी के लिए कितना भयंकर था, इसकी वेदना कृष्ण के मन में तो थी ही, आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द भी उसकी पीड़ा से कराह उठे। उन्होंने दुर्योधन के विषय में उसे 'कुल-गोत्र-हत्यारा' कहकर यह लिखा है कि 'अच्छा था कि यदि वह जन्म से पूर्व माँ के पेट में मर जाता !' महाभारत-युद्ध से कितनी हानि हुई इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश (११ समुल्लास) में लिखते हैं—

"ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया है कि अब तक भी वह अपनी पूर्व-दशा में नहीं आया ।

"जब बड़े-बड़े विद्वान्, राजा, महाराजा, ऋषि-महर्षि लोग महाभारत-युद्ध में बहुत-से मारे गये और बहुत-से मर गये तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आपस में करने लगे ।"

पाण्डवों के दूत बनकर लोक-कल्याण की भावना से श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। पहुँचते ही सर्वप्रथम १३ वर्षों से अपने पुत्रों से बिछुड़ी बुआ कुन्ती से मिले जो बिदुर के यहाँ कष्ट के दिन काट रही थी। श्रीकृष्ण ने सब समाचार सुना और पाण्डवों के कल्याण से कुन्ती को आश्वस्त किया।

दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को प्रभावित करने के लिए उनके स्वागत की बड़ी तैयारी की थी। मिलने पर मधुपर्क से उनका स्वागत किया, किन्तु श्रीकृष्ण किसी प्रलोभन में पड़कर अपने कर्त्तव्य से विमुख होनेवाले न थे। उन्होंने महामना विदुर का रूखा-सूखा भोजन स्वीकार किया, पर जब दुर्योधन ने राजसी भोजन का उन्हें निमन्त्रण दिया तब उन्होंने नीति की एक बहुत सुन्दर बात कहकर उसके निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया—

संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न त्वं संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥

—उद्योग० ९०।२५

भोजन करने के दो ही कारण होते हैं—प्रीति और आपत्ति। प्रीति तुममें नहीं है और आपत्ति मुझपर नहीं है।

युद्ध के विरोधी श्रीकृष्ण के अतिरिक्त महामन्त्री विदुर भी थे। उन्होंने इससे पूर्व कितनी बार युद्ध जैसी विषम परिस्थितियों को टालने का प्रयत्न किया, पर किसी ने उनकी एक न सुनी। उन्होंने अभिमानी दुर्योधन की सभा में जाकर अपना अपमान कराने के लिए भी श्रीकृष्ण को रोका। श्रीकृष्ण ने विदुर से अपनी मनोभावना व्यक्त करते हुए कहा—"दुर्योधन की दुष्टता का मुझे ज्ञान है, परन्तु खून से लथपथ हो जानेवाली पृथिवी को देखकर मुझसे रहा नहीं जाता। कैसी भयंकर आपत्ति संसार पर आएगी यह सोचकर मैं विवश हो गया हूँ। ऐसे समय जो मनुष्य इन करोड़ों लड़ाकुओं को मृत्यु के मुख से खींच ले, वह अत्यन्त पुण्य का भागी होगा। मैं चाहता हूँ शान्ति हो जाए।"

अगले दिन भरी राजसभा में श्रीकृष्ण गये और सर्वप्रथम धृतराष्ट्र को सम्बोधित किया—"आपका कुल श्रेष्ठ है, किन्तु आपकी सन्तान बिगड़ रही है। वे अपने भाइयों से ही क्रूरता का व्यवहार कर रहे हैं। इसका परिणाम वह घोर आपत्ति है जो इस कुल पर आनेवाली है। इससे पृथिवी का नाश हो जाएगा। आप चाहें तो इसे रोक सकते हैं—यह कोई कठिन कार्य नहीं है। राजन्! इस समय दोनों पक्षों में सन्धि कराना मेरे और आपके अधीन है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा में रक्खें। पाण्डवों को मैं रोक दूँगा।"

दुर्योधन को भीष्म, विदुर, द्रोण, गान्धारी तथा स्वयं धृतराष्ट्र ने बहुत समझाया, पर उसने किसी की एक न सुनी। स्वयं श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से कहा—"तुम परमज्ञानी महापुरुषों के कुल में पैदा हुए

हो। स्वयं शूर हो। फिर कुलहीनों का-सा व्यवहार क्यों करते हो ? युद्ध हुआ तो कुल का नाश होगा। सभी तुम्हें कुलघाती कहेंगे, अतः सन्धि कर लो !"

"दुर्योधन ने श्रीकृष्ण की शान्ति-वार्ताओं पर ध्यान नहीं दिया। उसका एक ही उत्तर था—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥

—उद्योग० १२७।२५

हे केशव ! जितनी भूमि एक सुई की नोक से छिद सकती है, मैं पाण्डवों को उतनी भूमि भी देने के लिए तैयार नहीं हूँ।

जाने से पूर्व श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के दुष्कृत्यों और मनोभावनाओं के लिए उसे लज्जित किया और इतना ही कहा—"निश्चय ही तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी है। शान्ति अच्छी थी, तू उसे ठुकरा रहा है।"

दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासन श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने की योजना बना चुके थे, किन्तु सात्यकि और कृतवर्मा जैसे यादव वीरों के विरोध के कारण वे सफल न हो सके। धृतराष्ट्र से श्रीकृष्ण ने कहा—"मैं चाहूँ तो दुर्योधन को अभी बाँधकर पाण्डवों को सौंप दूँ, किन्तु मैं दूत हूँ, अधर्म नहीं करूँगा।" यह कहकर श्रीकृष्ण राजसभा से उठकर चले गये।

कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा अपने पुत्रों को सन्देश भेजा—

"क्षत्राणी जिस दिन के लिए पुत्र-प्रसव की पीड़ा सहती है वह दिन आ गया है !"

कुशल सारथि

महाभारत-युद्ध में श्रीकृष्ण की क्या भूमिका रहे—यह स्वयं उनके लिए निर्णय-योग्य प्रश्न था। यादव-कुल कौरव-पाण्डव दोनों

दलों में विभक्त था। अर्जुन का शिष्य सात्यकि जहाँ पाण्डव-पक्ष की ओर था, वहाँ उनका दूसरा शिष्य कृतवर्मा अपनी सेना-सहित कौरव-दल में सम्मिलित हो चुका था। यादव वीर जलसन्ध यदि कौरवों की ओर था तो चेकितान पाण्डवों का सहायक बना हुआ था। श्रीकृष्ण की सहानुभूति यदि पाण्डवों की ओर थी तो उनके अग्रज बलराम कौरवों से अधिक स्नेह रखते थे। ऐसी विषम स्थिति में श्रीकृष्ण युद्ध में सक्रिय भाग लेकर यादव-कुल के विनाश और संहार का कारण स्वयं नहीं होना चाहते थे। वे रण में कम शूरवीर न थे। इसलिए उन्होंने सब यादव वीरों को स्वतन्त्र छोड़ दिया। पर स्वयं की क्या भूमिका रहे—यह एक विकट प्रश्न था। महाभारत के उद्योगपर्व, अध्याय ६ में वह प्रसिद्ध कथा भी वर्णित है जिसके अनुसार उन्होंने दुर्योधन और अर्जुन के सम्मुख दो विकल्प रक्खे—एक ओर एक अक्षौहिणी नारायणी सेना और दूसरी ओर निरस्त्र श्रीकृष्ण। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पसन्द किया और दुर्योधन नारायणी सेना प्राप्त कर प्रसन्न हो गया।

श्रीकृष्ण अश्वविद्या में भी बहुत कुशल थे। सारथि का कार्य उन्हें प्रिय भी था और आवश्यकता भी थी। वे अपने प्रिय सखा अर्जुन के सारथि हो गये जिससे वे यथासमय आवश्यक सहायता, परामर्श भी दे सकें और युद्ध के सूत्रधार बन उसका संचालन भी कर सकें। महभारत-युद्ध में पाण्डवों की विजय का एक प्रमुख कारण श्रीकृष्ण का अर्जुन का सारथि बनना था। इससे एक कार्य और सिद्ध हो गया। कौरवों से सहानुभूति रखनेवाले बलराम श्रीकृष्ण के विरोध में उनके सम्मुख खड़े न हो सकते थे। सारथि बनने की उनमें क्षमता न थी। वे तो सीधे-सादे हलधर थे, अतः ऐसे समय वे तीर्थयात्रा के लिए वहाँ से चले गये।

सारथि के रूप में श्रीकृष्ण की कुशलता, क्षमता और सहायता के अनेक उदाहरण महाभारत में प्राप्त हैं। सर्वप्रथम अर्जुन के मोह

को दूर कर उसे गीता के उपदेश के रूप में यथार्थ मार्ग का ज्ञान दिया ।

महाभारत का युद्ध कुल १८ दिन हुआ, जिसमें प्रथम दस दिन प्रधान सेनापति भीष्म रहे । इन दस दिनों में अनेक ऐसे अवसर आये जब अर्जुन ने पूरे मन से भीष्म से युद्ध नहीं किया । परिणामस्वरूप पाण्डव-सेना की बहुत क्षति होती रही । श्रीकृष्ण इस परिस्थिति से भली-भाँति परिचित थे । महाभारत के अनुसार श्रीकृष्ण सारथि-विद्या में इतने कुशल थे कि उन्होंने अनेक अवसरों पर रथ की विशिष्ट गति से अर्जुन के प्राणों की रक्षा की । इस समय भी—

मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ।
दर्शयामास राजन् स सूतसामर्थ्यलाघवम् ॥

—भीष्मपर्व ५२।५३

उन्होंने सूतविद्या की कुशलता प्रदर्शित करते हुए रथ के ऐसे चक्कर दिये कि भीष्म के तीर खाली गये । इतना ही नहीं, अर्जुन के प्राणों की रक्षा के लिए आवश्यकता अनुभव हुई तो निरस्त्र रहने की अपनी प्रतिज्ञा को भंग करके उन्होंने भीष्म के विरोध में अपना सुदर्शन चक्र उठा लिया, यद्यपि उन्हें हथियार उठाया देखकर मुस्कराते हुए भीष्म ने अपने हथियार डाल दिये ।

श्रीकृष्ण के कुशल सारथि होने का अन्य उदाहरण अर्जुन-कर्ण-युद्ध में दृष्टिगोचर होता है । कर्ण शल्य-जैसे सारथि के कारण युद्ध में पराजित हुए और अर्जुन श्रीकृष्ण-जैसे सारथि के कारण कर्ण का वध करने में सफल हुए । शल्य योद्धा होने के अतिरिक्त अश्वशास्त्र-विशारद चतुर सारथि भी थे । उन्होंने दुर्योधन के कहने पर कर्ण का सारथि बनना स्वीकार तो किया, किन्तु शर्त यह लगा दी कि उन्हें कर्ण को कहने-सुनने का अधिकार रहेगा । कौरवों की ओर लड़ना स्वीकार करने के पश्चात् शल्य युधिष्ठिर से मिले तो उन्होंने मामा होने के नाते शल्य से यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि कर्ण का सारथि

होने की अवस्था में ये उसका उत्साह भंग करते रहेंगे। युद्ध में सारथि का काम उन्होंने चतुरता से किया, किन्तु वे निरन्तर कर्ण की निन्दा और अर्जुन की प्रशंसा कर उसे हतोत्साह भी करते रहे। दूसरी ओर समय-समय पर निराश अर्जुन को उत्साह प्रदान कर मार्गदर्शन करनेवाले श्रीकृष्ण ही थे। युद्ध के समय एक अवसर वह भी आया जब कर्ण ने सर्पाकार एक ऐसा बाण चलाया जो अर्जुन के लिए घातक हो सकता था, किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण का सारथित्व काम आया। उन्होंने इस संकट में घोड़ों की लगाम खींचकर उन्हें घुटनों पर बैठा दिया। इससे रथ नीचा हो गया और उसके पहिये पृथिवी में धँस गये। तीर अर्जुन के सिर पर से उसके मुकुट को गिराकर दूर जा पड़ा। अर्जुन बाल-बाल बच गये। कृष्ण रथ से उतरे और पहियों को पृथिवी से निकाल अपने सारथि-कर्म में लग गये। इस काल में युद्ध-नियमानुसार कर्ण को युद्ध बन्द कर देना चाहिए था, पर उसने ऐसा नहीं किया। इतने में स्वयं कर्ण के रथ का पहिया पृथिवी में धँस गया। सारथि कृष्ण की तरह कर्ण के रथ का पहिया उसके सारथि शल्य को निकालना चाहिए था, किन्तु वह घोड़ों को सँभालने में ही लगा रहा और रथ से उतर न सका। स्वयं कर्ण को अपने रथ का पहिया निकालने के लिए रथ से उतरना पड़ा। उसने अर्जुन और श्रीकृष्ण से संग्राम-धर्म की दुहाई दी। इसपर श्रीकृष्ण ने उनके रथ का पहिया अभी कुछ समय पूर्व धँसने और युद्ध न रोकने का उदाहरण दिया। कर्ण के धर्मयुक्त (?) उन कार्यों का स्मरण कराया जिनकी प्रेरणा वह सदा दुर्योधन को देता रहा। अर्जुन को और अधिक उत्साहित करने के लिए उन्होंने कर्ण से यह भी कहा—"हे कर्ण! जब तुमने बहुत-से महारथियों से मिलकर अकेले अभिमन्यु को घेरकर मार डाला था उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था?" अभिमन्यु-वध का स्मरण आते ही अर्जुन ने ऐसा बाण चलाया कि कर्ण वहीं धराशायी हो गया।

नीतिनिपुण

नीति के अन्तर्गत राजनीति और धर्मनीति दोनों समाविष्ट हैं पर यहाँ श्रीकृष्ण की राजनीति-निपुणता की ही चर्चा करेंगे। ऋषि दयानन्द श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहते हैं—"श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा।"

राजनीति का ही एक भाग है कूटनीति, जिसके आचार्य के रूप में आचार्य चाणक्य प्रसिद्ध रहे हैं। श्रीकृष्ण ने भी कूटनीति का यथा-स्थान आश्रय लिया है। चाणक्य के असुर-गुरु शुक्राचार्य अपने नीतिसार के उपसंहार में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कहते हैं—

न कूटनीतिरभवत् श्रीकृष्णसदृशो नृपः।

—शुक्रनीति ४।१२९७

आजतक पृथिवी पर श्रीकृष्ण-सदृश कोई कूटनीतिज्ञ राजा नहीं हुआ। महाभारत की कतिपय घटनाएँ उनके इसी गुण को प्रकाशित करती हैं।

(१) कृष्ण कर्ण के शौर्य और पराक्रम से परिचित थे, अतः वे चाहते थे कि यदि कर्ण दुर्योधन का पक्ष छोड़कर पाण्डवों की ओर आ जाए तो एक ओर दुर्योधन का युद्धोन्माद समाप्त होगा और दूसरी ओर पाण्डवों का बल और शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाएगी। कर्ण था भी कुन्ती का कुमारी-पुत्र। इस सम्बन्ध से वह युधिष्ठिर का ज्येष्ठ भ्राता था। कर्ण को पाण्डव-पक्ष की ओर मिलाने का उन्होंने प्रयत्न भी किया। सन्धि-प्रस्ताव से जब वे लौटने लगे तो सात्यकि के साथ उन्होंने कर्ण को भी अपने रथ पर बैठा लिया। वे कर्ण से कहने लगे—'हे राधेय! तुमने वेदविद् विद्वानों का सत्संग कर बड़े श्रम से वेद-तत्त्वों को जाना है। तुम धर्मशास्त्र के सूक्ष्म तत्त्वों में भी निपुण हो। धर्मानुसार तुम पाण्डुपुत्र हो तथा युधिष्ठिर के ज्येष्ठ भ्राता हो, अतः राज्य के अधिकारी भी तुम ही बनोगे। तुम मेरे साथ

चलो। पाँचों पाण्डव तुम्हारे चरण स्पर्श करेंगे। स्वर्ण-कलशों के ओषधियुक्त जलों से तुम्हारा अभिषेक होगा। द्रौपदी भी तुम्हारा सम्मान करेगी।" किन्तु कर्ण कृष्ण के प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ। फिर भी कृष्ण निराश नहीं हुए। कृष्ण की प्रेरणा से कुन्ती कर्ण के पास गई और उसे अपना पुत्र बताकर पाण्डवों की रक्षा करने के लिए कहा। कर्ण ने तभी माता कुन्ती को बचन दिया—

न जातु ते विनङ्क्ष्यन्ति पुत्राः पंच यशस्विनी।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि॥

हे माता! तेरे पाँच पुत्र सदा बने रहेंगे। अन्तर केवल इतना होगा कि या तो अर्जुन के स्थान पर कर्ण होगा अथवा मेरे मारे जाने पर वे यथावत् पाँच के पाँच बने रहेंगे ही। कुन्ती को दिये इस वचन के कारण युद्ध में कितने ही अवसरों पर कर्ण ने युधिष्ठिर आदि शेष चार भाइयों को आहत करके छोड़ दिया, मारा नहीं।

श्रीकृष्ण ने कर्ण को अपनी ओर मिलाने का एक और प्रयत्न, युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व किया। युधिष्ठिर आदि जब भीष्म, द्रोण आदि से आशीर्वाद लेने उनके पास गये तो कृष्ण वहाँ से खिसककर कर्ण के पास पहुँचे और कहने लगे—'कर्ण! सुना है भीष्म से मतभेद होने के कारण भीष्म के जीवित रहते तुम शस्त्र नहीं उठाओगे। तो तब तक के लिए ही तुम हमारे पक्ष में आ जाओ। जब भीष्म न रहें तब पुनः दुर्योधन की ओर चले जाना।

(२) जरासन्ध-वध में श्रीकृष्ण के चातुर्य का पूर्व में वर्णन किया जा चुका है। कर्ण-वध से पूर्व युद्ध में कर्ण ने सेनापति बनते ही पाण्डव-सेना की विशाल क्षति प्रारम्भ कर दी। यहाँ तक कि युधिष्ठिर को भी भारी घाव लगा। भीम से सूचना प्राप्त कर अर्जुन और श्रीकृष्ण युद्ध छोड़कर युधिष्ठिर का हालचाल पूछने शिविर में आ गये। युधिष्ठिर अपनी पराजय से अत्यन्त खिन्न थे। उन्होंने समझा कि अर्जुन कर्ण के संहार का समाचार देने आये हैं। पर इसके विपरीत

जब उन्हें पता चला कि कर्ण तो अभी जीवित है तो अर्जुन को फटकारते हुए यहाँ तक कह डाला—

धिक् गाण्डीवं धिक् च ते बाहुवीर्यम् ।

'हे अर्जुन ! तुझे और तेरे गाण्डीव को धिक्कार है ! यह गाण्डीव धनुष किसी और को सौंप दे, क्योंकि अब तू इसे उठाने योग्य नहीं रहा है।'

'गाण्डीव को धिक्कार' इन शब्दों को सुनते ही—

असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ।

भाई की हत्या के इरादे से अर्जुन ने तलवार उठा ली । श्रीकृष्ण ने पूछा—'अर्जुन ! यह क्या कर रहे हो ? सारा बना-बनाया खेल बिगाड़ रहे हो। क्या पितृतुल्य भाई की हत्या करोगे ?' अर्जुन ने कहा कि 'यह तो मेरी प्रतिज्ञा है गाण्डीव को बुरा कहनेवाले को जीवित नहीं छोड़ूँगा ।'

कृष्ण ने उपाय बताया—'मान्य पुरुष की अप्रतिष्ठा उसके प्राण-घात से भी बढ़कर होती है । तुम युधिष्ठिर को 'आप' नहीं 'तू' कहकर बुला लो । बस इससे ही उनकी हत्या हो जाएगी ।'

अर्जुन ने जी भरकर युधिष्ठिर को खरी-खोटी सुनाई–'दिग्विजय हमने की और राजा तुम बन बैठे ! जुआ तुम खेले और आपत्ति में पड़े हम ! फिर भी यह ऐंठ कि कर्ण को क्यों नहीं मारा ? स्वयं मार लो !'

अर्जुन के इन कठोर वचनों को सुनकर युधिष्ठिर राजपाट छोड़कर वन को जाने लगे । आग बरसानेवाली अर्जुन की आँखें झट पानी बरसाने लगीं । उसने जाते हुए युधिष्ठिर के पाँव पकड़ लिये । युधिष्ठिर ने अर्जुन को उठाकर गले लगा लिया । इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता से इस बिगड़ते काम को सँभाल लिया ।

(३) श्रीकृष्ण की रणनीति से किस प्रकार भीष्म, द्रोण, शल्य, जयद्रथ और कर्ण जैसे महारथी धराशायी हुए, ये महाभारत के विस्तृत गम्भीर वर्णनीय विषय हैं। जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे दुर्धर्ष

राजाओं से भी श्रीकृष्ण की राजनीति ही मुक्ति दिला सकी। श्रीकृष्ण ने वन में युधिष्ठिर से भेंट कर कौरवों को मार देने में अपनी सहायता का प्रस्ताव भी किया था। घोष-यात्रा के समय चित्रसेन गन्धर्व से दुर्योधनादि कौरवों का युद्ध हुआ जिसमें चित्रसेन ने स्त्री-समेत सभी कौरवों को बन्दी बना लिया, किन्तु युधिष्ठिर ने इसे भी सहन नहीं किया और श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में अर्जुन की सहायता से उन्हें मुक्त करा दिया। श्रीकृष्ण संकट के सभी अवसरों पर पाण्डवों के साथ रहे और उन्हें यथार्थ मार्ग का निर्देशन दिया।

(४) महाभारत युद्ध में कौरव-सेना के बड़े-बड़े महारथी मारे गये। शेष रहे तो अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव-वीर कृतवर्मा के साथ दुर्योधन। दुर्योधन पैदल ही भागकर द्वैपायन नामक एक बड़े सरोवर में जा छिपा। श्रीकृष्ण गुप्तचरों से पता कर पाण्डवों के साथ उसी सरोवर पर पहुँच गये। वहाँ जाकर भी उन्होंने युधिष्ठिर से यही कहा—

मायाविनं इमां मायां मायया जहि भारत।

—शल्य० ३१ अ०

'हे भारत ! इस मायावी दुर्योधन का वध माया से ही करना चाहिए-यही नीति है।'

युधिष्ठिर की फटकार से स्वाभिमानी दुर्योधन सरोवर से बाहर आया और युधिष्ठिर से बोला कि 'मैं साधु पुरुषों की नीति का अनुसरण कर युद्ध करना चाहता हूँ।' युधिष्ठिर उसकी बातों में आ गये और तुरन्त वचन दे बैठे—

पंचानां पाण्डवेयानां येन त्वं योद्धुमिच्छसि।
तं हत्वा वै भवान् राजा हतो वा स्वर्गमाप्नुहि॥

—शल्यपर्व अध्याय ३२

'हे दुर्योधन ! तुम कवच और शस्त्रादि धारण कर पाँचों पाण्डवों में से जिसके साथ युद्ध करना चाहो उस एक का ही वध कर देने पर तुम

राज्य के स्वामी बन जाओगे, अन्यथा स्वयं मरकर स्वर्ग को प्राप्त करोगे।'

युधिष्ठिर के इस बचन को सुनकर श्रीकृष्ण बड़े खिन्न हुए। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा भी—'हे युधिष्ठिर ! यह तुमने क्या कर दिया ? यह दुर्योधन बड़ा वीर है। यदि इसने तुम्हें या नकुल-सहदेव में से किसी को युद्ध के लिए वरण कर लिया तो क्या स्थिति होगी ? यह गदा-युद्ध में भी बहुत दक्ष है जिसमें तुममें से कोई इसे पराजित नहीं कर सकता।' इसी बीच भीम ने कहा—'हे मधुसूदन ! मैं आज इस पापी का वध कर समस्त वैरों से छुटकारा पाऊँगा।' दोनों वीर भयंकर गदा-युद्ध में एक-दूसरे से भिड़ गये। पर दुर्योधन को हराना सहज कार्य न था। ऐसे अवसर पर स्वयं गदा-युद्ध में दक्ष श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

भीमसेनस्तु धर्मेण युध्यमानो न जेष्यति।

'यह भीम धर्मपूर्वक युद्ध करता हुआ दुर्योधन से जीत नहीं सकेगा। जूए के समय दुर्योधन की जाँघ तोड़ने की प्रतिज्ञा का पालन कर इस मायावी को माया से ही नष्ट करे।' श्रीकृष्ण के इस संकेत को प्राप्त कर भीम ने दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार कर विजय प्राप्त की।

(५) दुर्योधन से गदा-युद्ध में भीम को विजय तो प्राप्त हो गई किन्तु एक नया संकट उत्पन्न हो गया। तीर्थ-यात्रा से लौटते हुए गदा-युद्ध के आचार्य बलराम वहाँ उपस्थित हो गये। नाभि से नीचे प्रहार करने को धर्मविरुद्ध आचरण कहकर वे अपना शस्त्र हल उठाकर भीमसेन को मारने दौड़े। इस समय श्रीकृष्ण ने पुनः नीति से काम लिया। उन्होंने भागकर बड़े भाई बलराम को भुजाओं में भर लिया और उन्हें शान्त करते हुए बोले—

आत्मवृद्धिर्मित्रवृद्धिर्मित्र-मित्रोदयस्तथा।
विपरीतं द्विषस्त्वेतत् षड्विधा वृद्धिरात्मनः॥

—शल्यपर्व अध्याय ६०

"भैया बलराम ! अपनी उन्नति ६ प्रकार से होती है—(१) स्व की उन्नति, (२) मित्र की उन्नति, (३) मित्र के मित्र की उन्नति, (४) शत्रु की हानि, (५) शत्रु के मित्र की हानि, और (६) शत्रु के मित्र के मित्र की हानि। अपने मित्रों की हानि के निवारण के लिए सदा प्रयत्न करना चाहिए। ये पाण्डव धर्माश्रयी हैं और बुआ-पुत्र होने से हमारे सम्बन्धी भी हैं। इसके अतिरिक्त भीम ने दुर्योधन की जाँघ तोड़ने की पूर्व-प्रतिज्ञा का ही पालन किया है। भीम ने क्षत्रिय होने के नाते अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का ही पालन किया है—इसमें भीम का कोई दोष नहीं है। इन पाण्डवों की उन्नति में ही हमारी उन्नति है।"

(६) युद्ध की अन्तिम रात्रि में अपने पापी स्वामी दुर्योधन की मृत्यु के पश्चात् बिना सेना के कौरव-सेनापति क्रूरकर्मा अश्वत्थामा ने जो नृशंस कार्य किया, इतिहास में उसके उदाहरण नहीं हैं। प्रथम तो द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न की हत्या के बाद रात में सोते हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की पाण्डव समझकर हत्या कर दी। पुनः पाण्डवों के समूल-नाश के लिए ब्रह्मास्त्र चला, उत्तरा के गर्भस्थ शिशु को मृतप्राय बना दिया। श्रीकृष्ण ने गुरुपुत्र कहकर पाँच द्रौपदी-पुत्रों की हत्या के लिए अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए उसे क्षमादान ही नहीं दिलाया अपितु अपनी चिकित्सा-कुशलता का परिचय दे उत्तरा-पुत्र को जीवन-दान भी दिया। यह उनकी महानता और सहायता का एक अन्य उदाहरण है।

(७) कौरव-पक्ष की समस्त सेना तथा वीर पुरुषों के हताहत होने पर पाण्डवों-सहित श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को सान्त्वना देने के लिए हस्तिनापुर गये। वहाँ स्त्रियों का करुण-क्रन्दन हो रहा था। युधिष्ठिर ने जाकर धृतराष्ट्र को प्रणाम किया। धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधन को मारनेवाले भीम की तलाश में थे। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की इस मानसिक क्रोधाग्नि को तुरन्त समझ गये। इससे पूर्व कि धृतराष्ट्र भीम के गले लगें, उन्होंने हाथ से तुरन्त झटककर भीम को दूर कर दिया और—

भीममाक्षिप्त पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसम् ।

भीम के स्थान पर भीम की लोहे की मूर्ति धृतराष्ट्र के सामने कर दी जो दुर्योधन ने इस आशय से पूर्व बनवाई थी कि वह उसपर जोर अजमाता रहा । धृतराष्ट्र ने उस मूर्ति को ही भीम समझकर इतने बल से दबाया कि—मूर्ति के टुकड़े हो गये । इस प्रकार भीम की उन्होंने रक्षा की । बाद में धृतरष्ट्र को भी उन्होंने समझा दिया—

मा शुचो धृतराष्ट्र ! नैष भीमस्त्वया हतः ।
आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निष्पातिता विभो ।।

—स्त्रीपर्व, अध्याय १२

'हे धृतराष्ट्र ! आप शोक न करें । मैंने आपके अतिशय क्रोध को समझ-कर भीम की लोहे की प्रतिमा ही आपके सम्मुख रखी थी । भीम पूर्णतः सुरक्षित हैं ।'

धर्ममूर्ति

श्रीकृष्ण धर्म के साक्षात् अवतार समझे जाते हैं । उनके सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा थी—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ।।

—उद्योगपर्व ६८।९

'जहाँ सत्य है, धर्म है, संकोच और सरलता है वहीं गोविन्द का निवास है और जहाँ कृष्ण हैं वहीं विजय है ।' गीता (४।७) के अनुसार धर्म के अभ्युत्थान के लिए ही श्रीकृष्ण का जन्म है । धर्म, सदाचार, सद्व्यवहार के ऐसे कौन-से नैतिक गुण हैं जो श्रीकृष्ण में न रहे हों ! धृतराष्ट्र ने भी पुत्र दुर्योधन से यही कहा है—

अमेयाः केशवे गुणाः ।

'कृष्ण में अपरिमित गुण हैं ।' भीष्म, वेदव्यास, अर्जुन, युधिष्ठिर, बंकिम, दयानन्द और चमूपति आदि कितने ही महात्माओं की

सम्मतियाँ इस रूप में सुरक्षित हैं। धर्ममूर्ति श्रीकृष्ण के कुछ ऐसे प्रमुख गुण जो उनके जीवन में सुरक्षित हैं इस प्रकार हैं—

दिनचर्या

श्रीकृष्ण की प्रातःकालीन दिनचर्या क्या रहती थी यह महाभारत में वैशम्पायनजी ने जनमेजय से प्रकट की है—

ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः।
याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्धचत॥

'श्रीकृष्ण आधा प्रहर रात बीतने में शेष रहते शय्या छोड़ देते थे।' उसके पश्चात् ध्यानमार्ग में स्थित हो सत्य सनातन परमेश्वर का चिन्तन, स्तुति, प्रार्थना तथा उपासन करते थे। स्नान के पश्चात् गायत्री मन्त्र का जाप कर अग्निहोत्र करते थे। और—

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः॥

—शान्तिपर्व अध्याय ५३

'उसके बाद चारों वेदों के विद्वानों को बुलाकर वेदमन्त्रों का पाठ एवं उपदेश कराकर विद्वानों को गायों का दान किया करते थे।'

श्रीकृष्ण यात्रा, प्रवास तथा युद्ध में भी सन्ध्या तथा अग्निहोत्र जैसे महायज्ञों से कभी विरत नहीं होते थे—

(१) सन्धि का सन्देश लेकर वे हस्तिनापुर जा रहे थे तब मार्ग में ऋषियों के आश्रम में विश्राम किया। महाभारत (उद्योग० अ० ८३) के अनुसार—प्रातःकालीन सन्ध्यावन्दन तथा दैनिक अग्निहोत्र के बाद उन्होंने ऋषियों से कल्याणप्रद उपदेश सुना।

(२) मार्ग में जब सूर्य अस्ताचल पर था। तब श्रीकृष्ण ने—

अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधिः।
रथमोचनमादिश्य सन्ध्यामुपविवेश ह॥

—उद्योगपर्व ८५।२१

'रथ रुकवाया। रथ से उतरकर शौचादि से निवृत्त हो वे सन्ध्या करने बैठ गये।'

(३) श्रीकृष्ण महात्मा विदुर के पास ठहरे। प्रातःकाल उन्होंने यथासमय सन्ध्या और अग्निहोत्र किया। जिस समय दुर्योधनादि श्रीकृष्ण से मिलने आये उस समय—

सन्ध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम्।

—उद्योग० अ० ९४

'श्रीकृष्ण सन्ध्यावन्दन में प्रवृत्त थे।'

(४) श्रीकृष्ण युद्ध में भी सन्ध्या-समय होने पर सन्ध्या करना नहीं भूलते थे—

ततः सन्ध्यामुपास्यैव वीरौ वीरावसादने।
कथयन्तौ रणे वृत्तं प्रयातौ रथमास्थितौ॥

—द्रोणपर्व अध्याय ७२

'श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ने परमेश्वर की उपासना—सन्ध्या-वन्दन की और फिर युद्ध-स्थल से अपने शिविर की ओर चल पड़े।'

शिष्टाचार और अभिवादन

श्रीकृष्ण अपने शील और शिष्टाचार के कारण भी लोकप्रिय थे। वे जब कभी अपने से ज्येष्ठ व्यास, भीष्म, धृतराष्ट्र, कुन्ती और युधिष्ठिर आदि से मिलते थे तब चरणस्पर्श कर उनका अभिवादन करते थे। ऋषि-महर्षियों के प्रति भी उनका सदा ऐसा ही पूज्यभाव रहा—

कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः।—आदि० १९०.२०

"मैं कृष्ण हूँ, ऐसा कहकर उन्होंने युधिष्ठिर के चरणों का स्पर्श किया।'

शान्ति-सन्देश लेकर जब वे हस्तिनापुर गये और बुआ कुन्ती से मिले, तब—

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च ।

श्रीकृष्ण ने कुन्ती के घर जाकर सर्वप्रथम चरण छूकर प्रणाम किया।

श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ भीष्म के आवास पर उनकी मृत्यु का उपाय पूछने गये, तब—

प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रतिपेदिरे ।

प्रवेश करते ही श्रीकृष्ण तथा सभी पाण्डवों ने सिर झुकाकर भीष्म को प्रणाम किया ।

श्रीकृष्ण दूत बनकर हस्तिनापुर जा रहे थे कि मार्ग में महर्षियों के आश्रम पड़े, तब—

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः ।
यथावृत्तान् ऋषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥

—महाभारत उद्योगपर्व

श्रीकृष्ण ऋषियों को देखते ही रथ से उतरे और सभी को सादर प्रणाम कर उनसे कुशलक्षेम पूछा—

कच्चिद् लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः ।

हे ऋषियो ! तुम्हारी कुशलता तो है ? तुम्हारे धर्मानुष्ठान में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं आ रही ?

श्रीकृष्ण केवल कुन्ती ही नहीं अपितु पूरी नारी-जाति के सम्मान के प्रबल पक्षपाती थे। वे जानते थे कि मातृशक्ति का सम्मान ही भावी उन्नति का आधार है, अतः उन्होंने गान्धारी, देवकी आदि सभी पूजनीय महिलाओं के प्रति सदा आदरभाव प्रदर्शित किया तथा सुभद्रा, द्रौपदी, उत्तरा आदि सभी कनिष्ठा देवियों के प्रति भी स्नेह और सौहार्द का परिचय दिया ।

सहिष्णुता—श्रीकृष्ण सहिष्णुता की साक्षात् प्रतिमा थे। अनेक अवसरों पर उन्होंने अपने इस गुण का भी परिचय दिया। दूत बनकर जब वे दुर्योधन की राजसभा में गये तब दुर्योधन ने भरी सभा में उनका अपमान किया, किन्तु श्रीकृष्ण शान्त रहे। राजसूय यज्ञ के

प्रारम्भ में शिशुपाल ने सबकी उपस्थिति में श्रीकृष्ण पर अनेक आरोप लगाये। कृष्ण ने मुस्कराकर उनको सहन किया और सीमा का उल्लंघन करने पर ही उसे दण्ड दिया। अन्य अवसरों पर भी कैसी ही भयंकर आपत्ति में वे कभी विचलित नहीं हुए। धैर्य और सहिष्णुता का यह गुण किन्हीं महापुरुषों में ही सुलभ होता है।

श्रीकृष्ण लोभ, द्वेष, क्रोध, अमर्ष, ईर्ष्या आदि सभी अवगुणों से दूर थे। उन्होंने दुर्योधन को स्पष्ट बता दिया था—'हे राजन्! मैं किसी कामना से, क्रोधवश, द्वेष के कारण, स्वार्थपूर्ति से, बहानेबाजी या लोभ से अपने धर्म का त्याग नहीं कर सकता।' (महाभारत उद्योगपर्व अ० ९१।२१, २२, २४) उन्होंने जो कुछ कहा उसे जीवन में प्रमाणित भी कर दिखाया।

गीता के उपदेष्टा

उत्तर-वैदिक-साहित्य में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का सर्वोपरि स्थान है जो महाभारत ग्रन्थ का ही एक भाग है। इसके उपदेष्टा हैं स्वयं योगिराज श्रीकृष्ण। यह उपदेश उन्होंने अर्जुन का मोह दूर करने के लिए महाभारत के युद्ध-स्थल में युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व उसको दिया था। यह ग्रन्थ अपनी महिमा के कारण उपनिषद्, वेदान्तसूत्र के साथ मिलकर 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता है जिसपर सभी वैष्णव आचार्यों द्वारा भाष्य तथा अन्य मीमांसकों द्वारा गहन विचार किया गया है। गीता पर विभिन्न भाषाओं में भाष्यों की भी कमी नहीं है। यहाँ तक कि प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार ने भी गीता पर अपना भाष्य लिखकर यह प्रमाणित कर दिया है कि आर्यसमाज भी गीता में वैसी ही आस्था रखता है जैसी अन्य कोई रख सकता है यद्यपि दृष्टिकोण में अन्तर हो सकता है।

गीता केवल अर्जुन के ही व्यामोह को दूर करने का अनुपम ग्रन्थ नहीं है, अपितु संसार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वस्थ जीवनदर्शन है

जिसमें सांख्ययोग, कर्मयोग, स्थितप्रज्ञ का लक्षण, कर्मसंन्यास, कर्मफल-त्याग, यज्ञ और ज्ञान की श्रेष्ठता, भक्तिमार्ग आदि कितने ही विषयों का वर्णन है। गीता योग का ग्रन्थ है और इसके उपदेष्टा श्रीकृष्ण योगिराज हैं। गीता के उपदेश की कुछ प्रमुख बातें निम्न हैं—

१. यह आत्मा अजर, अमर, अजन्मा, नित्य, अनादि और अविनश्वर तत्त्व है।

२. हमें कर्म करने का ही अधिकार है उसके फल का नहीं।

३. सफलता-असफलता दोनों में समबुद्धि रख कर्म करना ही समता-योग है। ऐसा मनुष्य 'गुणातीत' होता है।

४. मन की समस्त कामनाओं के त्यागपूर्वक अपने में ही सन्तुष्ट रहनेवाला व्यक्ति 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति ही सच्ची शान्ति अनुभव करता है।

५. यज्ञार्थ कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धन के कारण हैं। यज्ञ-कर्म भी निरासक्त होकर करने चाहिएँ।

६. श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है सामान्यजन उसी का अनुकरण करता है।

७. समाज में ब्राह्मणादि चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्मों के आधार पर की गई है।

८. द्रव्य-यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ अधिक श्रेयस्कर है। ज्ञान से अधिक पवित्र अन्य कुछ नहीं है।

९. श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति को ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है।

१०. जो भी कर्म करें उसे भगवद्-अर्पण कर देना चाहिए।

११. यज्ञ, दान और तप पवित्र कर्म हैं जिनका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु ये कर्म भी फल की इच्छा छोड़कर करने चाहिएँ।

भीष्म से उपदेश

महाभारत-युद्ध समाप्त होने के बाद भी पितामह भीष्म

शरशय्या पर लेटे उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसे समय श्रीकृष्ण ने अपनी बुद्धिमत्ता तथा विनम्रता का परिचय देते हुए युधिष्ठिर को परामर्श दिया कि वह भीष्म के चरणों में उपस्थित हो उनसे उपदेश ग्रहण करें। उन्होंने कहा—'भीष्म ने संसार को खूब देखा है। राजाओं की कई पीढ़ियाँ उनके सामने गुज़री हैं। नीति तथा धर्म का जितना विस्तृत और गम्भीर ज्ञान वे रखते हैं, किसी अन्य को उसका एक अंश भी उपलब्ध हो सकना सम्भव नहीं। ज्ञान के इस अथाह समुद्र से कुछ कण यदि प्राप्त हो सकते हैं तो अभी।'

युधिष्ठिर का पुनः राज्याभिषेक हुआ और वह भीष्म के चरणों में उपदेश-ग्रहणार्थ उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण, अन्य पाण्डव, सात्यकि आदि सभी साथ थे। भीष्म जब तक जीवित रहे, मनोहर कथाओं के माध्यम से अपने जीवन का अनुभव-सार उन्हें सुनाते रहे। भीष्म का यह उपदेश महाभारत के शान्तिपर्व के रूप में सुरक्षित है जिसमें संसार के समाज-शास्त्र तथा धर्म और नीतिविषयक साहित्य की गहन बातें विद्यमान हैं। उपदेश से पूर्व विनम्रतावश भीष्म ने श्रीकृष्ण से कहा—"आप जैसे सर्वविद्यानिधान महापुरुष की उपस्थिति में मेरा कुछ भी कहना अविनय के तुल्य है, अतः आप स्वयं ही युधिष्ठिर को उपदेश करें।"

उत्तरकृष्णचरित्र—महाभारत-युद्ध के पश्चात्

यादववंश और श्रीकृष्ण—महाभारत-युद्ध के पश्चात् भी श्रीकृष्ण ३६ वर्ष और जीवित रहे। आचार्य चमूपतिजी की शोध के अनुसार तथा ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण के आधार पर श्रीकृष्ण की आयु १०० वर्ष से दो-एक वर्ष अधिक रही होगी। महाभारत-युद्ध की समाप्ति पर वे ७० से नीचे रहे होंगे।

महाभारत-युद्ध की महान् क्षति की पूर्ति होना असम्भव थी। तथापि देश की प्राकृतिक शक्ति तथा युधिष्ठिर के प्रेमपूर्ण अश्वमेध

ने अवशिष्ट राजाओं के मनों को जोड़ने का कार्य अवश्य किया, पर यादव-कुल श्रीकृष्ण जैसे नायक के रहते हुए भी मद और विलास के कारण विनाश की ओर बढ़ता चला गया।

श्रीकृष्ण के जन्म से पूर्व मथुरा में यादववंश आपसी फूट और कलह के कारण विभक्त था। जरासन्ध और कंस के अत्याचारों के कारण वे शक्तिशाली होने पर भी संगठित न हो पाते थे। श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम यही कार्य किया कि कंस का स्वयं और जरासन्ध का युक्तिपूर्वक भीम द्वारा वध कराकर यादवों को उनसे विमुक्त किया तथा सम्पूर्ण भारत को जरासन्ध के एकसत्तात्मक साम्राज्य से निकालकर युधिष्ठिर के आत्मनिर्णयमूलक आर्यसाम्राज्य (कॉमन-वैल्थ) के सूत्र में संगठित किया। यादवों को मथुरा से निकालकर द्वारिका में बसाया तथा वहाँ ऐसे सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण कराया जिसमें आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती थीं। द्वारिका में आकर युद्ध के दिनों में यादव-वंश का व्यवहार कितना संयमित था इसकी प्रशंसा महाभारत (द्रोणपर्व १४४।२४–२८) में इस प्रकार की गई है—"वे वृद्धों की आज्ञा में चलते हैं। अपने सजातीयों का अपमान नहीं करते। ब्राह्मण, गुरु और सहजातियों के धन के प्रति अहिंसावृत्ति रखते हैं। धनवान् होकर भी अभिमान-रहित हैं। ब्रह्म के उपासक तथा सत्यवादी हैं। समर्थों का मान करते हैं। दीनों की सहायता करते हैं। सदा देवोपासना में रत, संयमी और दानशील हैं। डींगें नहीं मारते। इसीलिए वृष्णिवीरों का राज्य नष्ट नहीं होता।"

श्रीकृष्ण की नीतिनिपुणता तथा नेतृत्व का यह फल था कि यह वंश इतने दीर्घकाल तक भी पतन से बचा रहा। पर धीरे-धीरे भोग-विलास, आलस्य और प्रमाद के कारण उनका जीवन विनाश की ओर बढ़ने लगा। वे अधिकाधिक उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करने लगे। परस्पर की कलह, उद्दण्डता, सामाजिक नियन्त्रण का अभाव, राष्ट्र

के नियमों की अवहेलना उनमें बढ़ती चली गई। वृष्णिकुमारों में ऋषियों के प्रति उपहास की प्रवृत्ति घर कर गई। एक पुरुष के पेट में मूसल बाँधकर वे ऋषियों से पूछते हैं कि 'इस देवी के लड़का होगा या लड़की ?' किसी भी पाप के करने में उन्हें संकोच न रहा। ब्राह्मणों, देवताओं, वृद्धजनों, पितृगणों तथा गुरुओं का अपमान होने लगा। पति-पत्नियों में भी प्रेम के स्थान पर परस्पर सम्मान की भावना भी न रही।

परस्पर कलह के अतिरिक्त सबसे बुरी बात यादवों की मदिरा-पान की प्रवृत्ति थी। श्रीकृष्ण द्यूत-क्रीड़ा और मदिरा-पान को समस्त दुर्गुणों का मूल समझते थे, अतः वे इनके कट्टर विरोधी थे। सौभनगर के राजा शाल्व के द्वारिका पर आक्रमण के समय एक बार फिर आहुक, बभ्रु, कृष्ण और बलराम के नामों से राष्ट्रभर में विज्ञप्ति कराई गई कि 'मद्य-निर्माण राजाज्ञा से निषिद्ध है। आज के बाद जो मदिरा-पान करेगा उसे बान्धवोंसहित प्राणदण्ड दिया जाएगा।' इस विज्ञप्ति से कुछ दिनों तक तो मद्य-पान रुक गया, किन्तु काल-क्रम में धीरे-धीरे यादवों में इसकी प्रवृत्ति पहले से भी अधिक बढ़ती चली गई।

महाभारत-युद्ध के बाद यादववीरों में कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, कृतवर्मा और सात्यकि शेष रहे। एक बार प्रभासनगर में कृष्ण-बलराम के अतिरिक्त सभी प्रमुख यादव-वीर एकत्र हुए। रास-रंग तथा मदिरा का दौर चलने लगा। इसी उमंग में सात्यकि और कृतवर्मा में परस्पर विवाद हो गया जिसमें जोश में आकर सात्यकि ने कृतवर्मा का सिर काट लिया। प्रद्युम्न ने सात्यकि का पक्ष लिया, किन्तु अन्धक और भोज उनके विरुद्ध हो गये। दोनों पक्षों में जमकर युद्ध हुआ जिसमें सम्पूर्ण यादवकुल का नाश हो गया। श्रीकृष्ण-बलराम के बाद इस वंश में शेष रहा तो वज्र नाम का एक वृष्णि-कुमार जिसे युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया।

मोक्ष-प्राप्ति

महाभारत-युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण ३६ वर्ष और जीवित रहे, यह तथ्य महाभारत में गान्धारी के इस वचन से प्रमाणित होता है—

त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन।
कुत्सितेनाप्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि॥

—महाभारत स्त्रीपर्व २५।४४

'हे मधुसूदन! ३६ वर्ष प्राप्त होने के बाद तू भी किसी कुत्सित उपाय द्वारा मृत्यु को प्राप्त होगा।'

जिसने जन्म लिया है वह तो एक दिन इस धरती से जाएगा ही। स्वयं उन्होंने गीता में कहा था—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

—गीता २।२७

'जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है।'

अपने सम्पूर्ण संकल्पों से निवृत्त हो जीवन की सन्ध्या-वेला में श्रीकृष्ण ने वानप्रस्थ ले लिया। वे यादव-कुल के दुराचरण से खिन्न थे ही। वन में रहकर योगिराज अपने यौगिक ध्यान, ज्ञान व समाधि में लीन रहने लगे। यह उनका परमशान्ति का जीवन था जिसमें आदर्श महापुरुष ने वर्णाश्रम धर्म का स्वयं भी पालन किया।

एक दिन कृष्ण किसी वृक्ष के अधोमूल में योगयुक्त अवस्था में विद्यमान थे। उन्होंने इन्द्रिय, वाक्, मन सभी को संयमित किया हुआ था। दूर स्थित एक शिकारी ने उन्हें मृग समझकर बाण से घायल कर दिया। शिकारी के बाण से घायल हो जब वे प्राण छोड़ने को उद्यत ही थे कि वह भ्रान्त शिकारी अपनी भूल को स्वीकार कर उनके चरणों में आ गिरा—

मत्वात्मने त्वपराद्धं स तस्य पादौ जगृहे शंकितात्मा।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं गच्छत्यूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या॥

—महाभारत मौसल पर्व ४।२४

अपना अपराध स्वीकार कर उस लुब्धक ने श्रीकृष्ण के चरण पकड़ लिये। उदारात्मा श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया, अपराध के लिए क्षमा किया और अपने प्राणों को त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया।

घातक से भी प्यार करनेवाले श्रीकृष्ण की यह मनोवृत्ति उनके प्रशस्त चरित का अन्तिम पृष्ठ था जो कालान्तर में ऋषि दयानन्द के जीवन में प्रतिफलित हुई। उनके ऐसे महिमामय जीवन के सम्बन्ध में 'योगेश्वर कृष्ण' के लेखक आचार्य चमूपतिजी ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"(श्रीकृष्ण) जिये तो शत्रुओं पर विजय पाते रहे। मरे तो मृत्यु पर विजय पाई। क्या सचमुच श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई ? वे तो अमर हैं। इतिहास के पन्नों में, भक्तों के हृदयों में, देश-विदेश की पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल रही देवमालाओं की अद्भुत कथाओं में श्रीकृष्ण अमर हैं। भारत की संस्कृति के साथ-साथ, राजा प्रजा दोनों की हितसाधक साम्राज्य-नीति के साथ-साथ वे अमर हैं।···कृष्ण ने यह सब-कुछ तो किया, सारे साम्राज्य के कर्त्ता-धर्त्ता कृष्ण ही थे परन्तु उनका महत्त्व इन सारी सफलताओं से अधिक इस बात में था कि आरम्भ से अन्त तक सारी लीला का सूत्रधार होते हुए भी स्वयं लीला से अलग-थलग खड़े साक्षी बने साधारण जनों की तरह तमाशा देखते रहे। पूजा के अधिकारी वे इस पराकाष्ठा के थे कि उनका नाम ही अपने पूर्वजों की तरह 'दाशार्ह'—अर्घ्य देने लायक—हो गया था, परन्तु जब अश्वमेध के समय साम्राज्य की नींव पक्की हुई, उसका भव्य भवन अविचल रूप से खड़ा हो गया तो अर्घ्य दिये जाने का विरोध उन्होंने स्वयं कर दिया।···फिर यदि शिकारी को अपने प्राणों की हत्या के लिए क्षमा कर दिया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्षत्रिय के लिए वन में मरना उतना ही श्रेयस्कर है जितना रणक्षेत्र में। शास्त्रानुसार यह गति भी वीरगति ही है।"

उसके बाद अर्जुन ने उनके पार्थिव शरीर को अग्नि दी—

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ।।३१।।
अदहच्चन्दनैश्चैव गन्धैरुच्चावचैरपि ।।२५।।

—महाभारत मौसलपर्व अ० ७

तदनन्तर बलराम और वासुदेव दोनों के शरीरों का आप्तपुरुषों के द्वारा दाह-संस्कार हुआ। चन्दन और अन्य सुगन्धित पदार्थ भी चिता पर डाले गये। श्रीकृष्ण के सत्कार्यों की सुगन्ध अन्य सुगन्धों के साथ संसार में व्याप्त हो गई।

वायुपुराण (९९।४२८) के अनुसार जिस दिन श्रीकृष्ण का निधन हुआ उसी दिन कलियुग का प्रारम्भ हुआ—

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदा दिने ।
प्रतिपन्नः कलियुगः ।

यह केवल एक कालगणना है। □

उपसंहार

आधुनिक युग में श्रीकृष्ण की समसामयिकता

लाला लाजपतराय ने अपने श्रीकृष्णचरित में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में एक बड़ी विचारणीय बात लिखी है—"संसार में महापुरुषों पर उनके विरोधियों ने अत्याचार किये परन्तु श्रीकृष्ण एक ऐसे महापुरुष हैं, जिनपर उनके भक्तों ने ही बड़े लांछन लगाये हैं। श्रीकृष्णजी भक्तों के अत्याचार के शिकार हुए हैं, व हो रहे हैं।" आज श्रीकृष्ण के नाम पर 'बालयोगेश्वर', 'हरे कृष्ण हरे राम' सम्प्रदाय, राधावल्लभ मत और न जाने कितने-कितने अवतारों और सम्प्रदायों का जाल बिछा है जिसमें श्रीकृष्ण को भागवत के आधार पर 'चौरजार-शिखामणि' और न जाने कितने ही 'विभूषणों' से अलंकृत कर उनके पावन-चरित्र को दूषित करने का प्रयत्न किया है। कहाँ महाभारत में शिशुपाल-जैसा उनका प्रबल विरोधी, पर वह भी उनके चरित्र के सम्बन्ध में एक भी दोष नहीं लगा सका और कहाँ आज के कृष्ण-भक्त जिन्होंने कोई भी ऐसा दोष नहीं छोड़ा जिसे कृष्ण के मत्थे न मढ़ा हो ! क्या ऐसे 'दोषपूर्ण' कृष्ण किसी भी जाति, समाज या राष्ट्र के आदर्श हो सकते हैं ? यह तो आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द की दिव्य दृष्टि थी जिन्होंने महाभारत के कृष्ण के महान् चरित्र को सम्मुख रख क्रान्तिकारी विचार प्रथम बार प्रस्तुत किये—"देखो ! श्रीकृष्णजी का इतिहास 'महाभारत' में अत्युत्तम है। उनका गुण,

कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरण-पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा।" —सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११

महर्षि दयानन्द ही नहीं, श्री बंकिम बाबू को भी श्रीकृष्ण के जीवन में कुछ भी विपरीत नहीं दिखाई दिया—

"उन (श्रीकृष्ण) के ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है, न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।" —कृष्णचरित्र (बंकिम बाबू)

आज श्रीकृष्ण के अनन्य भक्तों की न इस देश में कमी है और न विदेश में, परन्तु उन्हें विचार करना होगा कि वे कौन-से कृष्ण को अपना आचरणीय आदर्श बनाएँगे ? वंचक कृष्ण को या गुणों से वन्दनीय कृष्ण को ? श्री बंकिम बाबू पूछते हैं—

"वह बचपन में चोर थे। दूध, दही, मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुत-सी गोपियों के पातिव्रत्य धर्म को नष्ट किया। प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिये। क्या इसी का नाम भागवच्चरित्र है ?" —कृष्णचरित्र, पृष्ठ २

आज के युग में स्पष्ट है श्रीकृष्ण के प्रथम (निर्दोष) स्वरूप की आवश्यकता है, द्वितीय रूप की नहीं।

श्रीकृष्ण के अनुकरणीय रूप में दूसरी बाधा उनका अवतारी होना है। अवतार-रूप में वे 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' असम्भव-सम्भव सभी-कुछ कर सकने में समर्थ हैं। 'वे तो अवतार हैं ! उनके लिए सभी कुछ सम्भव है, हम उसका अनुकरण कैसे कर सकते हैं ?'—यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ० हेडगेवार ने अपनी जीवनी में एक स्थान पर लिखा है—

"भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ जिन महापुरुषों का जीवन अनुकरणीय रहा है उन्हें अवतारों की कोटि में धकेल दिया जाता है

और जब किसी को भगवान् का अवतार बना दिया गया तो फिर इसका अर्थ यही हुआ कि साधारण मनुष्य यह कार्य थोड़े ही कर सकेगा जो भगवान ही कर सकता है। श्रीराम-कृष्ण हमारे ऐसे ही महापुरुषों में से हैं।"

अन्य भी आधुनिक विचारकों और कवियों को यह बात विशेष रूप से अखरती रही है। हिन्दी में खड़ी बोली के प्रथम महाकवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' अपने महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की भूमिका में लिखते हैं—

"हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते हैं उनका चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है तो हम उसकी प्रति पंक्ति में या न्यून-से-न्यून उसके प्रतिपृष्ठ में ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते हैं जिसमें उनके ब्रह्मत्व का निरूपण हो।"

श्रीकृष्ण की समसामयिकता तथा आधुनिक युग में उनके जीवन की अनुकरणीयता पर विचार करते समय उनके महाभारत-वर्णित आदर्श महापुरुष का रूप सम्मुख रखना होगा, पुराणोक्त अवतारी रूप नहीं।

प्राचीन इतिहास में श्रीकृष्ण ही ऐसे महापुरुष हैं जिनके कार्य और गुण आज की युगीन परिस्थितियों में मार्गदर्शक का काम कर सकते हैं। वे सम्पूर्ण मानव थे। उन्होंने अधर्म, असत्य, अन्याय, पाप, दुराचरण से कभी समझौता नहीं किया। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट, दुर्योधन यहाँ तक कि युधिष्ठिर और अर्जुन से भी वही कहा जिसे वे न्यायोचित समझते थे। छोटे-बड़े सबकी मान-मर्यादा में वे अपनी मर्यादा समझते थे। राजसूय यज्ञ के पश्चात् अश्वमेध में उन्होंने अर्घ्य स्वीकार नहीं किया। स्वयं कभी राजा नहीं बने, किन्तु समस्त राज्य-मण्डल उन्हीं के निर्देश में संचालित होता था। कंस, जरासन्ध, शिशुपाल जैसे राजाओं के मरने पर उनके राज्यों के वे स्वयं अधिपति नहीं बने, अपितु उनके वास्तविक उत्तराधिकारियों को उन्होंने तुरन्त राजा बना दिया। वे द्यूत-क्रीड़ा के प्रबल विरोधी थे।

इसी कारण उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि उन्हें युधिष्ठिर के द्यूत-क्रीड़ा की सूचना भी मिल जाती तो बिना बुलाये भी वहाँ आकर वे उसे रोक देते। यादवों के मद्य-पान को उनके विनाश का वे मूल कारण मानते थे, अतः मद्यपायी लोगों के लिए उन्होंने प्राणदण्ड की व्यवस्था भी की। ऐसे कौन-से सद्‌गुण हैं श्रीकृष्ण जिसके आगार न थे! ज्ञान, विद्या, नीति, सदाचार, विनय, निर्भयता, धर्म, शूरता यहाँ तक कि अश्व-संचालन-विद्या में भी वे अपने युग में एक ही थे। गीता जैसा शास्त्र उन्हीं के मुखारविन्द से उपदिष्ट अमर प्रेरणा-ग्रन्थ है। ये सभी गुण आधुनिक पीढ़ी के लिए जीवन में पगे-पगे आगे बढ़ने की प्रेरणा देनेवाले हैं। सबसे बढ़कर वे मनुष्य थे। ऋषि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' में मनुष्य किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में लिखा है—

"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे अनाथ और निर्बल क्यों न हों—उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ और महाबलवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे।"

श्रीकृष्ण का विस्तृत जीवन मानो उपर्युक्त मनुष्य की परिभाषा का साक्षात् उदाहरण है। उन्होंने जीवन-भर वही किया जो ऋषि की दृष्टि में एक 'मनुष्य' को करना चाहिए। ऐसे युगपुरुष, महामानव की सदा सब युगों में आवश्यकता बनी ही रहेगी। ऐसे "नीति के पुतले, शील की प्रतिमा, सदाचार के अवतार, वेदविद्या के सागर, आदर्श साम्राज्य-निर्माता, शूरशिरोमणि, भारतभावन, जनप्रिय श्रीकृष्ण" को शतशः प्रणाम! □□□

हमारे कुछ विशिष्ट प्रकाशन

१. **ऋग्वेदभाष्यम् प्रथम भाग**	१००.००
पं० हरिशरणजी सिद्धान्तालंकार [चारों वेद १६ खण्डों में प्रकाशित होंगे, दूसरा भाग दिसम्बर १९८९ तक छप जाएगा]	
२. **पौराणिक पोलप्रकाश**	१००.००
पं० मनसारामजी वैदिकतोप	
३. **कल्याण-मार्ग का पथिक**	१५.००
स्वामी श्रद्धानन्दजी	
४. **खट्टी-मीठी यादें**	१२.५०
स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती	
५. **भारत की अवनति के सात कारण**	३.००
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती	